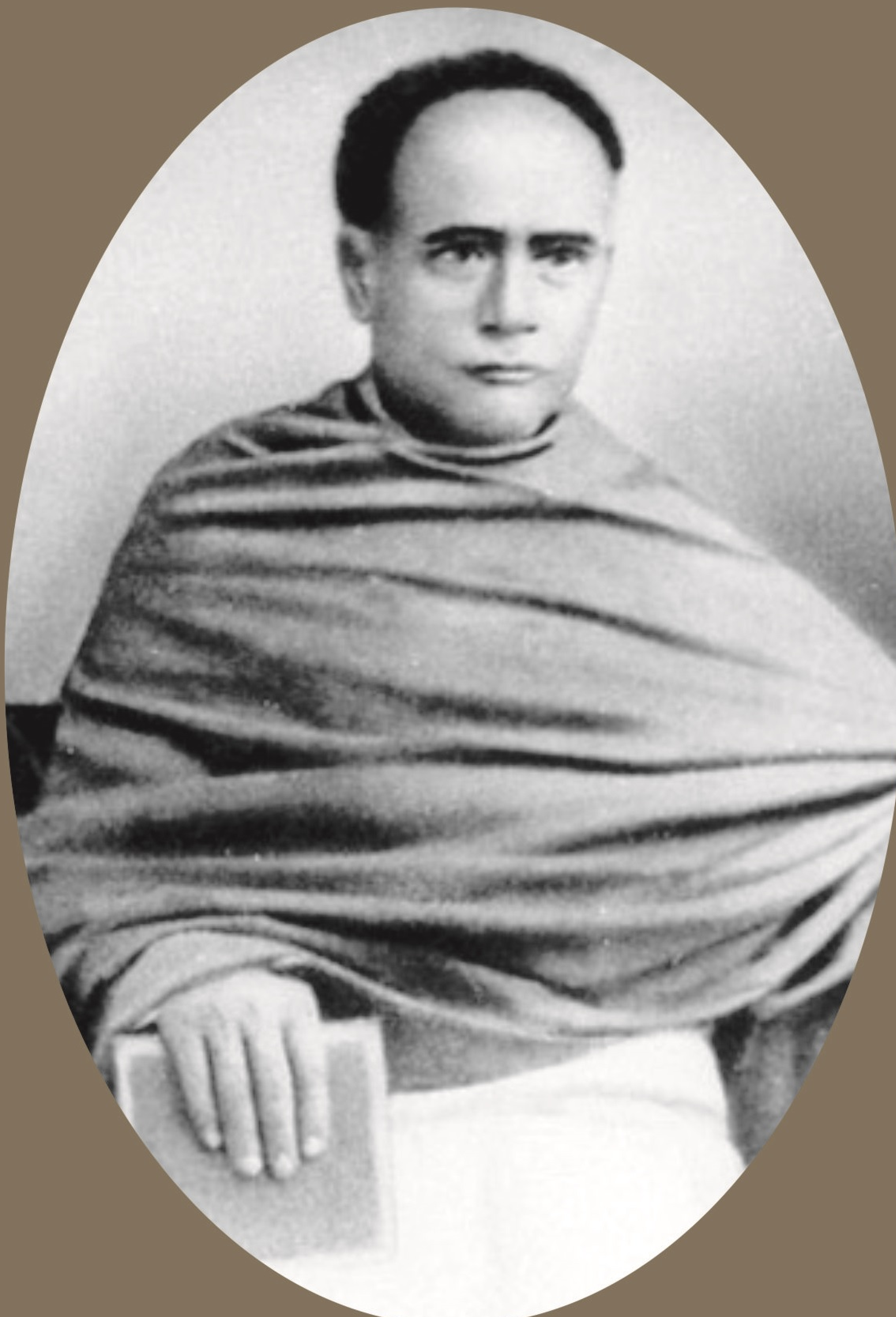
कौन थे विद्यासागर



विद्युत पाल



नन्दन कानन, कर्माटाँड़ में गुरुदक्षिणा कार्यक्रम

कौन थे विद्यासागर

200वें जन्म वर्ष पर एक कर्मवीर की कीर्तिगाथा

विद्युत पाल

प्रतर्क साहित्य संसद
14 विशाल निकेत, बाजार समिति रोड
पटना–800 016

Kaun the Vidyasagar
(200ven Janma Varsha par ek Karmaveer ki Kirtigatha)
A treatise on radical reformatory works and activities of Pandit Ishwarchandra Vidyasagar

By Bidyut Pal
e-mail : bidyutkajol@gmail.com
Contact : 9431882019

प्रथम संस्करण : जुलाई 2019

मूल्य : 130/– रुपये मात्र

nk 'kCn

अपनी जरुरत के अनुसार हर दिन हम सभी, किसी न किसी महापुरूष को याद करतें हैं और उनके द्वारा किये गये कार्यों से अनुप्रेरित होकर आगे बढ़ते हैं या बढ़ने की कोशिश करते हैं। अगर कोई महापुरुष का जन्मदिन नजदीक आता हैं तो उन्हें कुछ ज्यादा ही याद करतें हैं। लेकिन जब किसी महापुरुष का 100वाँ, 150वाँ या 200 वाँ जन्मदिन मनाने का समय आता है तो वह एक उत्सव का रूप लेता है। हम उनकी जिंदगी की घटनाओं से जुड़ना चाहते हैं। उनकी जिंदगी के कुछ अनदेखे अनजाने पहलुओं के बारे में कुछ और जानना चाहते हैं। उनकी जिंदगी की घटनाओं को विभिन्न तर्कसंगत आलोचनाओं की परख से गुजारते हैं ताकि यह पुनः सिद्ध हो सके कि वह महापुरुष थे।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की 200वीं जन्मतिथि के अब कुछ ही दिन बाकी हैं। अतः, यह उम्मीद की जाती हैं कि उनकी जिन्दगी के बारे में कुछ नई रचनाएँ आयेंगी, उनके द्वारा किये गये कई कार्यों का वर्तमान सामाजिक स्थिति के आलोक में पुनर्विचार किया जायेगा और विवेचन किया जायेगा। आज की परिस्थिति में होते तो कितना सफल होते। यह तुलनात्मक विचार सहज नहीं है। इसके लिए आलोचक का, आज से दो सौ साल पहले की सामाजिक स्थिति, तत्कालीन न्याय अन्याय की परिभाषा, हुक्म चलानेवाले ब्रितानी और हुक्म माननेवाले बंगालियों के आपसी रिश्तों का सम्यक ज्ञान होना आवश्यक है।

मैं हिंदी और बांग्ला भाषा के परिचित लेखक विद्युत पाल की, तुरंत लिखी हुई एक विचारात्मक रचना, 'कौन थे विद्यासागर' पढ़ रहा था। आम बांग्लाभाषिओं की तरह मेरा विद्यारम्भ भी पांच साल की उम्र में विद्यासागर रचित वर्णपरिचय प्रथम भाग से हुआ था। मेरे द्वारा बोली जानेवाली भाषा, जिसे मैं केवल सुन सकता था, बोल सकता था, उनके पुस्तक के माध्यम से एकाएक दृश्य हो उठा। उन्होंने मुझे मेरी भाषा का दर्शन कराया। वे उस दिन से हमारे भाषागुरु के पद पर आसीन हुए। बाद में मैं जाना कि उन्होने केवल आधुनिक बांग्ला भाषा और आधुनिक

बांग्ला गद्य का ही निर्माण नहीं किया बल्कि स्कूल कॉलेज के लिए आधुनिक पाठ्यक्रम भी बनाये। नारी को समाज में उपयुक्त स्थान दिलाने के लिए न केवल नारी शिक्षा में हाथ बटाया बल्कि विधवा विवाह को क़ानूनी जामा पहनाया, बहुविवाह एवं वालविवाह को रोकने की कोशिश की तथा विवाह के लिए उचित उम्र को भी निश्चित करना चाहा। मेरे द्वारा उन्हें परम पूजनीय मानने के लिए इतना ही काफी था। लेकिन विद्युत पाल ने भाषागुरु के जन्म के 200वें वर्ष के अवसर पर उन्हें और अच्छी तरह जानना चाहा है, परखना चाहा है।

श्री पाल ने तत्कालीन समाज का, उस समय के विभिन्न लेखकों की रचना के माध्यम से विस्तृत रूप से विश्लेषण करते हुए, विद्यासागर के हरेक कार्य के पीछे की उनकी सोच को, समझने की कोशिश की है। विद्यासागर की तरह और भी बहुत से लोग विधवाविवाह के पक्ष में थे लेकिन पाल के अनुसार ब्राह्मणों के शास्त्रार्थ के अकाट्यपन को काटने लिए शास्त्रार्थ का ही सहारा लेने की तार्किक बुद्धि केवल उनके पास थी फलतः वह जीते। पाठ्य क्रम की रुपरेखा तैयार करने के बाद मानक पुस्तकों की जरुरत थी जो या तो उपलब्ध नहीं थे या उपयुक्त नहीं थे। विद्यासागर ने खुद चौबीस से ज्यादा पुस्तकों की रचना की। उनमे से कोई भी स्वरचित कहानी की किताब नहीं थी, बल्कि उन्होंने अच्छे पुस्तकों से कथ्य लेकर या भावानुवाद के माध्यम से उपयोगी पाठ्यपुस्तकों को तैयार किया। पुस्तकों का क्रम से, केवल पाठ्यपुस्तक तैयार करने के उद्देश्य से रचा जाना यह जरुर स्पष्ट करता है कि विद्यासागर के मस्तिस्क में केवल एक बात थी– समयोपोयोगी शिक्षा के लिए मानक पुस्तकें उपलब्ध हों। पाल ने भवतोष दत्त लिखित 'प्रसंग विद्यासागर' से (1970) उपरोक्त प्रमाण को उद्धृत किया है। इसी तरह के अनेको प्रमाण उन्होंने इकठ्ठा किया है और विद्यासागर के साथ जुड़ी हुई घटनाओं को, परत दर परत खोलकर बार बार यह प्रमाण किया है कि विद्यासागर की सोची समझी रणनीति और उद्येश्य के पूरा न होने तक समर्पित भाव से युद्ध के बीच बने रहना ही उनके अजेय होने का कारण था।

विद्युत पाल की कथ्य शैली भी उत्तेजक है। अन्य जीवनी लेखकों की तरह भावविभोर हो कर विद्यासागर के विषय में कह रहें हैं और आप निविष्ट होकर सुन रहें हैं ऐसा मौका उन्होंने कभी आने नहीं दिया। बल्कि इस रचना को पढ़ते समय आपको यही लगेगा कि वह आपसे बात कर रहे हैं, आपसे राय मांग रहे हैं या अपने तर्को को बिन्दुवार आपके सामने रखकर आपके सहमत होने का इंतजार कर रहे हैं।

'कौन थे विद्यासागर' पढ़कर मेरे मन में भी प्रश्न उठता है कि अगर विद्यासागर हमलोगों की तरह हाड़मांस के कोई व्यक्ति थे, तो इतनी विपरीत परिस्थिति में वह इतने काम कैसे कर लिए कि नवजागरण के प्रधान पुरुष की संज्ञा पा गये? या वह कोई विशेष पुरुष थे, जिन्हें ईश्वर ने हमारे उद्धार के लिए समय के उस संधिक्षण पर भेजा था!

सच में, कौन थे विद्यासागर ?

—डा॰ (कैप्टन) दिलीप कुमार सिन्हा

çkDdFku

हिन्दी जगत में विद्यासागर कोई अपरिचित नाम नहीं है। खास कर उन्नीसवीं सदी के बांग्ला नवजागरण के दो युगनायक के नाम हिन्दी राज्यों के प्राथमिक स्तर के पाठ्यपुस्तकों में भी पाये जाते हैं। वे हैं राजा राममोहन राय एवं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। इन दोनों को, और खासकर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को हम मानते तो बहुत हैं पर जानते थोड़ा कम हैं। ये वही इन्सान हैं जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के मध्य में कठोर शब्दों में कहा था :

"पुरानी प्रकृति व प्रवृत्तियों वाले मनुष्यों की खेती बन्द कर, सात तहों तक की मिट्टी हटाकर अगर नये मनुष्यों की खेती की जाय, तब इस देश का भला होगा।"

वैसे यह पुस्तक न तो बांग्ला नवजागरण के बारे में है और न ही नवजागरण के उपरोक्त दो शिखरों में से एक, विद्यासागर के जीवन और कर्म का कोई सम्यक आकलन है। इस पुस्तक में हम बंगाल के मेदिनीपुर जिला स्थित वीरसिंहो गाँव में आज से 200 वर्ष पूर्व 26 सितम्बर 1820 को जन्मे कर्मवीर, ठाकुरदास बंदोपाध्याय एवं भगवती देवी के प्रथम सन्तान ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के जीवनकथा को भरसक नहीं दोहरायेंगे। क्योंकि उनकी जीवनकथा के कई पुस्तक उपलब्ध हैं, इन्टरनेट पर कई वेबसाइट्ों पर उनका जीवन परिचय मिल जायेगा। बल्कि सुबल चन्द्र मित्र द्वारा लिखित अंग्रेजी में उनकी जीवनी पूरी की पूरी विकिसोर्स के पृष्ठों पर धारावाहिक के तौर पर उपलब्ध है। यह पुस्तक सिर्फ विद्यासागर की कर्मगाथा का, आज के भारतीय जीवन के प्रासंगिक मुद्दों के आलोक में, विन्दुवार वर्णन व उसकी थोड़ी बहुत व्याख्या का प्रयास है। आज, जब हम इस महान कर्मवीर, या सही अर्थों में 'कर्म–दैत्य' के जन्म की 200वीं जयन्ती मनाने की तैयारी में जुटे हैं, हम उनके द्वारा किये गये कामों पर, वह भी आज की प्रासंगिकता में चर्चा करेंगे। हाँ, हो सकता है कि कामों की चर्चा के दौरान कुछ कुछ जीवन प्रसंग भी आ जाय।

आगे बढ़ने से पहले यह भी बताते चलें कि पूर्व के अविभाजित बिहार एवं आज के झारखंड के जामताड़ा जिले में स्थित कर्माटाँड़ (रेलवे

स्टेशन– विद्यासागर) में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के अन्तिम 18 वर्षों का आवास 'नन्दन कानन' में भी उनकी 200वीं जयन्ती मनाने की तैयारी चल रही है। 'विद्यासागर द्विशत–जन्मवार्षिकी नन्दनकानन समारोह समिति' ने इस अवसर पर दो वर्षों का जो कार्यक्रम तय किया है उसमें आज के भारत के कुछ ज्वलन्त सामाजिक मुद्दों को उठाने की बात हुई है। इस पुस्तक में भी हम विद्यासागर के कामों को जनशिक्षा, जनस्वास्थ्य, अंधविश्वासों के खिलाफ संघर्ष, वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण सोच का विकास, व्यक्तिजीवन में सकारात्मक, जनहितैषी जीवनमूल्यों की जरूरत आदि सन्दर्भों में देखने का प्रयास करेंगे।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर शिक्षा के आधुनिक पाठ्यक्रम के प्राथमिक पाठ्यपुस्तकों के, नई विद्यालयी व्यवस्था के, शिक्षक–प्रशिक्षण कार्यक्रम के एवं साथ ही साथ आधुनिक बंगला भाषा व साहित्योपोयोगी बंगला गद्य के प्रवर्तक थे। पिछले एक सौ साठ वर्षों से पूरी दुनिया में बांग्लाभाषी परिवारों की संतानें 'वर्णपरिचय' पढ़कर ही बांग्ला अक्षरज्ञान एवं भाषा का ज्ञान पा रहे हैं।

समाजसुधार के उनके सारे कामों की धुरी में रहता था नारी का सम्मान, प्रेम की मुक्ति का प्रश्न एवं आत्ममर्यादा–सम्पन्न राष्ट्रीयता का निर्माण। कितने आधुनिक थे उनके विचार ! 1858 में प्रकाशित 'बोधोदय' (सामान्यज्ञान की पुस्तिका) में, उल्लेखनीय है कि उन्होंने 'मेहनत–अधिकार' शीर्षक एक विषय बनाया और उसमें श्रम को परिभाषित करते हुये लिखा :

"अगर कोई भी आदमी कभी श्रम नहीं करता, तब गृहनिर्माण, कृषिकार्य होता नहीं, खाद्यसामग्री, पहनने का वस्त्र और पाठ्यपुस्तक, कुछ भी नहीं मिलता, सभी लोग दुख में समय बिताते, पृथ्वी अभी अपेक्षाकृत तौर पर जितना सुख का स्थल बना है, वैसा कदापि नहीं होता।"

स्कूल–कॉलेजों के बच्चों के लिये उन्होने संस्कृत और शास्त्र के बजाय प्रकृतिविज्ञान और अंग्रेजी पर जोर डाला, नया पाठ्यक्रम बनवाया, उसे लागू करवाया। तो मातृभाषा के प्रति उनका रुख क्या था? इस बात से अलग कि उनका लगभग पूरा वाङमय (संस्कृत के व्याकरण व पाठ्यपुस्तकों एवं अंग्रेजी में लिखी सरकारी चिट्ठियों को छोड़कर) मातृभाषा में है, देखिये 'बोधोदय' में वह क्या कहते हैं :–

"अंग्रेज लोग अभी हमारे देश के राजा हैं, अतः अंग्रेजी हमारी राजभाषा है। इस कारण से सभी आग्रह के साथ अंग्रेजी सीखते हैं। लेकिन पहले जातिभाषा (बांग्लाभाषा में 'जाति' शब्द का प्रयोग बंगाली राष्ट्रीयता के अर्थ में होता है –व०ले०), नहीं सीख कर दूसरे की भाषा सीखना किसी भी तरह उचित नहीं है।"

अपनी आत्मजीवनी लिखते हुये वह दो अध्यायों से आगे नहीं बढ़ पाये थे। सिर्फ उनके पिता और माता के तरफ के पूर्वजों की जानकारी मिलती है उनमें। उसी में वह विनोदी भाव से बताते हैं कि जब उनका जन्म हुआ था तो पिता घर पर मौजूद नहीं थे। लौटने पर दादाजी ने उन्हे खबर दिया कि घर में एक 'एँड़े' बछड़ा पैदा हुआ है। पिताजी सीधे घर की गाय जहाँ बंधी रहती थी और जो गर्भवती थी वहाँ पहुँच गये।

बांग्ला में 'ऐंड़े' का तीन अर्थ होता है। बछड़े के साथ लगा तो वह पुलिंग सूचक होता है। बच्चा के साथ लगा तो पेट से कमजोर होने का सूचक होता है। स्वतंत्र रूप से उसका अर्थ होता है जिद्दी, साँड़ जैसा बेरोक धावा बोलने वाला। विद्यासागर ने अपने विनोदी स्वभाव के कारण आजीवन इस शब्द का इस्तेमाल अपने लिये किया। और, निःसन्देह सही किया। सही अर्थों में पौरुषमय था उनका व्यक्तित्व। इसीलिये सामन्ती पुरुष–सत्ता के खिलाफ नारी–मुक्ति के तमाम प्रासंगिक सवालों पर उन्होने मोर्चा खोला और आजीवन लड़े। बचपन से पेट के कमजोर तो नहीं थे पर 46 साल की उम्र में एक दुर्घटना का शिकार हुये जिससे उनके लीवर में चोट लग गयी। इस चोट से फिर वे कभी उबर नहीं पाये। और तीसरा, अपने उसूलों को लेकर जिद्दी होने के साथ–साथ आजीवन बछड़े जैसा सरल, सुन्दर भी रहे ।

पूरे बंगाल में लगभग दो सौ विद्यालयों की स्थापना उन्होंने तत्सम्बन्धित सरकारी पद पर कार्य करते हुए किया। जिस महाविद्यालय के वे प्राचार्य बने, उस महाविद्यालय में भर्ती होने में गैर–ब्राह्मणों पर लगी रोक को उन्होने हटाया। जिस मध्यवर्गीय सवर्ण समाज में वह रह रहे थे उस समाज की एक बड़ी कुरीति थी–कम उम्र में विधवा होकर पूरा जीवन आत्मनिग्रह और लांछना की कालकोठरी में बिताना। विद्याासागर ने ब्राह्मण बालाओं की इस मजबूरी को विधवाविवाह की रीति का प्रचलन कर मिटाया, किसी यूरोपीय आधुनिकता की रुमानी समझ के सहारे नहीं बल्कि ब्राह्मणों के ही अस्त्र, शास्त्रार्थ का इस्तेमाल करते हुये। दूसरी

कुरीति, कुलीन ब्राह्मणों की बहुविवाह प्रथा के खिलाफ भी संघर्ष उन्होंने उसी शास्त्रार्थ का सहारा लेकर किया। बालविवाह के खिलाफ जनमत तैयार करने तथा कानून बनवाने में भी वे संघर्षरत रहे। सनातन धर्म के ध्वजाधारक हिन्दू पंडितों ने उन्हे लांछित करने के लिये क्या नहीं किया, जान से मरवाने तक को सोचा, किराये के गुंडे लगवाये, पर वह विचलित नहीं हुये। जिनका उन्होने भला किया वही आदमी उनका बुरा करने में लग गया। आगे चल कर उनकी यह मुस्कान भरी टिप्पणी प्रसिद्ध हो गई, "उसका तो मैनें कोई भला नहीं किया कभी, फिर वह मेरे पीछे क्यों पड़ा है?"

सन् 1872 के आसपास कर्माटाँड़ आकर बस गये। कल्याणकारी कामों का सिलसिला छूटा नहीँ, न तो कलकत्ता में और न वीरसिंहो में बल्कि बर्द्धमान जिले में कामों का एक नया सिलसिला भी शुरु किया– बस रिश्ते छूटे या वह खुद ही कुछ दूर चले गये। जीवन के इस अगले अध्याय में कुछ और नये काम उन्होने अपने कंधों पर ले लिये–महामारी में एवं सामान्य स्थिति में भी गरीब, दुखी जनों की चिकित्सा एवं सेवा, अकाल में राहत–कार्य, खेतीबाड़ी में आदिवासी ग्रामीणों की मदद (कलकत्ता से नये किस्म के बीज भी लाकर आदिवासी किसानों को देना और खेती के उन्नत तरीकों के बारे में उन्हे बताना), वयस्कों एवं बालिकाओं की शिक्षा।

अपने यौवनकाल में भी उन्होने कभी कविता की एक पंक्ति नहीं लिखी। पुस्तकें जो लिखे वे सारे पाठ्यपुस्तक थे, जिनके कथासुत्र संस्कृत या फिर हिन्दी या अंग्रेजी से लिये गये। उनकी आधुनिकता का यह भी एक लक्षण है कि बेताल पंचविंशति का कथा सुत्र उन्होने संस्कृत से नहीं बल्कि फोर्ट विलियम कॉलेज में पढ़ाई जाने वाली हिन्दी से लिया। खैर, कभी कहानियाँ, नाटक, उपन्यास आदि लिखने के बारे में उन्होने नहीं सोचा। लेकिन, 'बंग नाट्यालय' की स्थापना के साथ उनकी भूमिका जुड़ी हुई है। राजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर 'बंग नाट्यालय' के संस्थापकों में से एक माने जाते हैं। उनके पाथुरियाघाटा स्थित आवास के परिसर में उन्होने नाटकों का मंचन शुरु करवाया। इसके देखरेख के लिये जो कमिटी बनी उसमें माइकेल मधुसूदन दत्त के साथ ईश्वरचन्द्र

विद्यासागर भी थे। मंच को विद्यासागर सजाते थे, पूरे मंचन की परिकल्पना बनाते थे क्योंकि संस्कृत नाट्यकला की बारिकियों का उन्हे सम्यक ज्ञान था ('शकुन्तला' पुस्तक में उन्होने खुद छात्रों के लिये उन बारिकियों को समझाया है)। खुद घोर अनुशासन में जीने वाले व्यक्ति होकर एवं अनुशासित जीवनादर्श की शिक्षा देने वाले कठोर शिक्षक होकर भी वह घनघोर शराबी, उच्छृंखल जीवन जीने वाले कवि माईकल मधुसूदन दत्त को लगातार मदद करते रहने से कभी पीछे नहीं हटे। क्योंकि वह जानते थे कि उनके समय का यही एक शख्स है जो शिक्षित, बिलायत से वकालत पास होने के बावजूद सब कुछ त्याग कर घोषणा करने की हिम्मत रखता है कि "वह सिर्फ कवि होगा, नहीं तो कुछ नहीं।" वह जानते थे कि बांग्ला काव्यभाषा, नाटक, काव्यशैली आदि का क्रांतिकारी बदलाव जो माईकल कर रहे हैं, आने वाले पथिकों के लिये मशाल साबित होगा।

साधक रामकृष्ण परमहंस खुद उनसे मिलने उनके घर पर आये। जिस श्रद्धापूर्ण भाषा से रामकृष्ण ने उनका सम्भाषण किया कि अब तक वह यानी रामकृष्ण सिर्फ नाला, तालाब या नदी के पास गये थे अब समुद्र के पास आये हैं, वह विनयोक्ति अवश्य है पर अतिशयोक्ति नहीं। विद्यासागर के निधन पर कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वह टिप्पणी प्रसिद्ध हो चुकी है कि सात करोड़ बंगालियों के बीच भगवान ने, आश्चर्य है कि कैसे एक इन्सान को पैदा कर दिया। बात बंगाली या हिन्दुस्तानी की नहीं है। विद्यासागर अपने कर्म, चरित्रबल, दृष्टि, करुणा सभी गुणों में आम इन्सानों से इतना उपर थे कि बांग्ला नवजागरण का ही शिखर होते हुए भी थे नवजागरण के दायरे से मीलों आगे !

दर्जनों कहानियाँ हैं उनके बारे में, उनकी दानशीलता, करुणा और मूल्यों पर अडिग रहने को लेकर। दानसागर भी कहे जाते हैं वह। छात्र जीवन से लेकर कर्मजीवन के अन्त तक उन्होंने जो भी कमाया, छात्रवृत्ति से लेकर वेतन या प्रकाशित पुस्तकों की रॉयल्टी तक, सब दूसरों को बाँटते रहे। अन्त समय में भी इच्छा–पत्र बनाने के बहाने वे लम्बी सूची दे गये, किसे कितनी रकम देते रहना है। संस्कृत कॉलेज में सहायक सचिव के पद पर कार्य करने के समय उनका बनाया हुआ नया पाठ्यक्रम सचिव को पसन्द नहीं आया। उन्होंने उसे लागू नहीं होने दिया। विद्यासागर ने तत्काल इस्तीफा दिया। लोगों ने पूछा, क्या

करोगे? जियोगे कैसे ? विद्यासागर ने जबाब दिया ''सब्जी बेचूंगा, किराना का दुकान खोलूंगा, कुछ भी कर लूंगा।'' अँग्रेज साहब केर ने अपने कमरे में विद्यासागर के प्रवेश करने पर भी जूता सहित पैर टेबुल से नीचे नहीं उतारा तो विद्यासागर ने भी, केर के उनके कमरे में प्रवेश करने पर जूता सहित पैर टेबुल पर चढ़ा लिया।

हिन्दी के युगान्तकारी लेखक, कवि, नाट्यकार एवं पत्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र न सिर्फ विद्यासागर के कामों एवं विचारों से प्रभावित थे बल्कि खुद भी उन तमाम कुरीतियों के खिलाफ आजीवन संघर्षरत रहे, नारी–शिक्षा एवं नारी–मुक्ति के पक्ष में एक प्रबल योद्धा–नाट्यकार एवं पत्रकार के रूप में सक्रिय रहे। उन्होने विद्यासागर के लिये कहाः

lUnj okuh dfg le>kô A
fo/kokxu lk ug c<kọA
n;kfu/kku ije xqu vkxj A
lf[k lTtu ufg fo|klkxj AA

पारिवारिक कारणों से भारतेन्दू का बनारस से कलकत्ता आनाजाना होता था। दूसरी ओर विद्यासागर के माता–पिता उस समय बनारस में रहते थे। इसलिये विद्यासागर से भारतेन्दु की नियमित मुलाकात कलकत्ता और बनारस दोनों जगह पर होती रही। बनारस पहुँचने पर विद्यासागर भारतेन्दु के घर जाते थे। भारतेन्दु के पिता से उनकी अच्छी मित्रता बनी। भारतेन्दु के आवास पर जो उनके पिता का अपना व्यक्तिगत पुस्तकालय था उसमें संगृहित संस्कृत पाण्डुलिपियों का विद्यासागर नियमित उपयोग किया करते थे। एक बार दोनों को एक साथ गवर्नर जेनरल से मिलने जाना था किसी मुद्दे को लेकर। भारतेन्दू तो औपचारिक उत्तर–भारतीय पोशाक में सजधज कर पहुँचे, विद्यासागर को उन्होंने देखा वही पुराना चप्पल, धोती, कमीज में आते हुये। विद्यासागर को प्रवेश करने से मना किया गया। दोनों लौट आये, विद्यासागर के स्वदेशाभिमान का एक नया पहलू युवा भारतेन्दु को देखने को मिला।

महात्मा गांधी कहते हैं, "राममोहन राय से शुरू कर एक के बाद एक वीरोचित व्यक्तियों ने बंगाल को अन्य प्रदेशों से अधिक ऊँचा स्थान दिया है। यह कहा जा सकता है कि विद्यासागर उनमें महानतम थे। 'विद्यासागर', जिसका अर्थ होता है ज्ञान का समुद्र, उन्हें मिली एक सम्मानजनक

उपाधि भी थी, जो उन्हे कलकत्ता के पंडितों ने, उनके गहन संस्कृत ज्ञान को देखते हुये प्रदान किया था। लेकिन ईश्वरचन्द्र सिर्फ ज्ञान के समुद्र नहीं, करुणा, दया एवं अन्य कई गुणों के भी समुद्र थे। वह एक हिन्दू थे, ब्राह्मण भी थे, लेकिन उनके लिये ब्राह्मण और शुद्र, हिन्दू और मुसलमान सब बराबर थे। कोई भी अच्छा काम जो उन्होने किया, उसमें उन्होने ऊँच–नीच का कोई फर्क नहीं किया।"

सन 1898 के 30 जुलाई की शाम को कलकत्ता स्थित एमेरल्ड थियेटर में विद्यासागर की स्मृति में एक सभा का आयोजन किया गया था। उस सभा में बोलते हुये गुरूदेव रबीन्द्रनाथ ठाकुर ने शुरू में ही कहा :

"विद्यासागर के चरित्र में जो प्रधानतम गुण है –जिस गुण के कारण वह ग्रामीण रूढ़ियों की क्षुद्रता, बंगाली जीवन की जड़ता को अपने बल से भेदते हुये, कठिन प्रतिकूलता का वक्ष सिर्फ अपने गतिवेग की प्रबलता से विदीर्ण करते हुये, हिन्दुत्व की ओर नहीं, साम्प्रदायिकता की ओर नहीं, करूणा के अश्रुजल से पूर्ण उन्मुक्त अपार मनुष्यता की ओर अपने दृढ़निष्ठावान एकाग्र जीवन को प्रवाहित कर ले गये थे, आज अगर मैं उनके इस गुण की प्रशंसा करने से पीछे हटूँ तो मेरा कर्तव्य बिल्कुल ही अधूरा रह जायेगा।"

उनके जीवन पर नजर डालते ही जो प्रभावित करता है वह है एक योद्धा का रुख, अपने काम के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि और अपने शत्रुओं को नापती हुई पेशेवर शीतलता। अगर दुश्मन आप किसी व्यक्ति को मानें तो बात समझ में नहीं आयेगी। व्यक्ति को तो उन्होने कभी दुश्मन नहीं माना। दुश्मन थी कुरीति, दुश्मन था अज्ञान, दुश्मन था रूढ़ि के ध्वजाधारियों का हिंसक कूपमंडुक अहंकार ।

.ऋण स्वीकार

मेरे अग्रज मित्र तथा विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति के उपाध्यक्ष, डा॰ (कैप्टेन) दिलीप कुमार सिन्हा का मैं .ऋणी हूँ। इस पुस्तक का शीर्षक पिछले साल किसी एक दिन, बिहार बंगाली समिति कार्यालय में हो रही बातचीत के दौरान उनके मुँह से निकल आया था। 'हू वाज़ विद्यासागर? कौन थे विद्यासागर? यह हमें आज लोगों को बताने की जरूरत है।" उसी शाम मैंने ठान लिया कि इस कठिन कार्य में हाथ जरूर लगाउंगा, भले ही सफलतापूर्वक पूरा कर पाना मेरी क्षमता से परे हो।

बाद में, इस पुस्तक की पूरी पाण्डुलिपि को उन्होंने धैर्यपूर्वक पढ़ा, सुझाव दिये एवं भूमिका स्वरूप 'दो शब्द' भी लिख दिये। उन्हे धन्यवाद देना बेमानी है, इतने करीब के हैं वह हम सब, बिहार के बांग्लाभाषियों के लिये, फिर भी .ऋण तो स्वीकारना ही पड़ेगा।

दूसरे व्यक्ति, जिनके लगातार सहयोग के बिना लगातार इस काम में लगे रहना सम्भव ही नहीं होता, वह हैं मेरी पत्नी, काजल। उनका पूरा .ऋण है इस पुस्तक के पूरा होने में।

मैं इस शहर में अपने सांस्कृतिक सहयोगी, मित्र अनीश अंकुर का भी .ऋणी हूँ। पाण्डुलिपि का एक प्रुफ उन्होंने धैर्यपूर्वक पढ़ा एवं गलतियाँ सुधार दी।

मैं डा॰ बी॰ बी॰ मंडल, श्री सुनिर्मल दास सहित बिहार बंगाली समिति के अपने सभी सहयोगियों का .ऋणी हूँ जो बार बार पूछते रहे कि पुस्तक का काम चल रहा है या नहीं और इस तरह मेरा ढाड़स बढ़ाते रहे।

उत्सर्ग

पुर्णेन्दू शेखर पाल (नितुदा) अगर आज जीवित रहते तो ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के 200वें जन्मवर्ष के सभी कार्यक्रमों में अग्रणी भूमिका में रहते। लेकिन अचानक वे हमें छोड़ कर चले गये। यह पुस्तक मैं अपने गुरु एवं मित्र पुर्णेन्दू शेखर पाल (नितुदा) को उत्सर्ग करता हूँ।

vuØe

●

AA ,d AA

f'k{kk % u;k ikBîØe fuekZ.k

Þge vke turk rd f'k{kk d ykHk dk igpkuk gkxkA ge ekrHkk"kk d fo|ky; LFkkfir dju n] mi;kxh ,o f'k{kkçn fo"k;k ij ekrHkk"kk e fyf[kr ikB;iLrdk dh J[kyk r;kj dju n] f'k{kdk dh ftEenkjh yu d ;kX; ykxk dk ,d ny cuku n rk cl] y{; dh çkfIr gk tk;xhAß (विद्यासागर द्वारा अंग्रेज सरकार के शिक्षा परिषद के सचिव डा० मोएट को लिखे गये पत्र से उद्धृत)

सबसे पहले हम उनके द्वारा, शिक्षा के क्षेत्र में किये गये कामों पर नजर डालें। शिक्षा के क्षेत्र में किये गये कामों की चर्चा में क्रमानुसार पहला होगा, संस्कृत कॉलेज के नवनियुक्त साहित्य के प्राध्यापक के रूप में नये पाठ्यक्रम के निर्माण का काम। ऐसा नहीं कि शिक्षा या किसी और क्षेत्र में भी, यह उनका पहला काम था। यह उनकी पहली नौकरी भी नहीं थी। पहली नौकरी सन 1841 से 1846 तक फोर्ट विलियम कॉलेज मे करने के बाद एक बार वह इसके पहले संस्कृत कॉलेज की नौकरी कर चुके थे (अप्रैल 1846–अप्रैल 1847)। उसी समय उन्होने पठन–पाठन में जो सुधार करना चाहा उन सुधारों को कॉलेज के तत्कालीन सचिव द्वारा रोका गया। विरोध में विद्यासागर ने इस्तीफा दिया और फिर से फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकरी कर ली।

सन 1850 के नवम्बर में संस्कृत कॉलेज में साहित्य के प्राध्यापक का पद रिक्त हुआ। शिक्षा परिषद के सचिव डा० मोयेट के अनुरोध पर विद्यासागर ने दोबारा संस्कृत कॉलेज में अपना योगदान दिया। लेकिन विद्यासागर ने इसी शर्त पर उस पद पर अपना योगदान दिया था कि उन्हे सचिव की सारी कार्यकारी शक्तियाँ मिलेंगी ताकि वह कॉलेज को सुधार सकें। सरकार की अनुशंसा पर यह शक्ति उन्हें मिल भी गई। स्वाभाविक तौर पर, स्थिति को भाँपते हुये कुछ ही दिनों के बाद सचिव रसमय दत्त ने इस्तीफा दिया। उनके इस्तीफे के बाद विद्यासागर सचिव बने। बाद में, सन 1851 में संस्कृत कॉलेज में सचिव के पद को प्राचार्य का पद बनाये जाने पर विद्यासागर पहले प्राचार्य बने।

उस समय, पुस्तकों का लेखन, पत्रिका का सम्पादन आदि कई काम उनके चल रहे थे। उन कामों की चर्चा जगह पर होगी। नये पाठ्यक्रम

निर्माण के काम का ऐतिहासिक महत्व है। इसीलिये इसकी चर्चा हम पहले कर रहे हैं। यह भी बताते चलें कि उस समय के कॉलेज आज के जैसे नहीं थे। जिन्हे आज विद्यालयी शिक्षा कहते हैं उन निचली कक्षाओं की पढ़ाई भी कॉलेज में हुआ करती थी। उच्च शिक्षा के लिये कलकत्ता शहर में हिन्दू कॉलेज और कलकत्ता मदरसा था। पारम्परिक हिन्दूशास्त्रों यानि अंग्रेजों की नजर में 'प्राच्यविद्या' के ज्ञान के लिये कलकत्ता एवं बनारस में दो संस्कृत कॉलेज बनाये गये थे। फोर्ट विलियम कॉलेज मुख्यतः अंग्रेजों के लिये था।

दरअसल, सन 1824 में अंग्रेजों द्वारा स्थापित यह संस्कृत कॉलेज, जिसमें ब्राह्मणों के लड़के 15 वर्षों की पूर्ण पाठावधि में संस्कृत के विद्वान बन कर निकलते थे, उन दिनों बन्द होने के कगार पर था। लड़के हर साल घट रहे थे, जबकि शिक्षा परिषद द्वारा स्थापित स्कूलों की संख्या, जो कलकत्ता में सन 1841 में 28 थी, 1855 में 151 हो गई थी। छात्रों की संख्या 4632 से बढ़कर 13,162 एवं शिक्षकों की संख्या 191 से बढ़कर 455 हो गई थी। इन स्कूलों में से कईयों में अंग्रेजी एवं देशी भाषायें (बंगला, हिन्दी, उर्दू) पढ़ाई जाती थी। इन स्कूलों से पास करने वालों को नौकरियाँ मिल रही थी। दूसरी ओर संस्कृत कॉलेज से पास कर निकलने वालों को नौकरियाँ नहीं मिल रही थी। विद्यासागर ने, 16 दिसम्बर 1850 को एक बड़े प्रतिवेदन के द्वारा शिक्षा परिषद को दो तरह के बदलाव सुझाये।

पहला, कि संस्कृत, खासकर व्याकरण की पढ़ाई, प्राचीन संस्कृत व्याकरण के पुस्तकों के द्वारा नहीं बल्कि देशी भाषा में आधुनिक शिक्षा पद्धति को ध्यान में रख कर रचे गये पुस्तकों के द्वारा हो। (यह कहने में जितना आसान लगता है उतना आसान नहीं था। उस समय तक भारतीय इतिहास में पहली बार किसी युवा शास्त्रज्ञ पंडित ने खुद, विद्यार्थियों को ध्यान में रखते हुये संस्कृत के क्लासिकीय पाठों का मूल्यांकन किया, एक एक पाठ को सामने रख कर उनकी समीक्षा की एवं छात्रों के लिये उनकी उपयोगिता को चुनौती दी। साथ ही छात्रों को पढ़ाये जाने वाले भारतीय दर्शनों की पद्धतिगत विसंगतियों की आलोचना की।)

दूसरा, कि संस्कृत के साथ साथ देशीभाषा (मातृभाषा), अंग्रेजी, भूगोल, साधारण व वैज्ञानिक ज्ञान एवं गणित (अंकगणित, बीजगणित एवं ज्यामिति) की पढ़ाई आवश्यक तौर पर हो।

इन दोनों किस्म के बदलावों की विशद व्याख्या एवं स्पष्ट सुझाव आदि उन्होने अपने दीर्घ प्रतिवेदन में दिया। पुरानी पद्धति, पाठ्यपुस्तक एवं पाठ्यक्रम की सटीक आलोचना की। साथ ही, कॉलेज में अनुशासन की बिगड़ी हुई हालत के मद्देनजर, ठोस कदम सुझाये ताकि उपस्थिति में सुधार हो, क्लास सब के सब हों एवं समय पर हों आदि। इन सुझावों से अलग, संस्कृत कॉलेज में छात्रों की भर्ती से सम्बन्धित जातिगत दायरों को तोड़ने से सम्बन्धित सुझाव की चर्चा आगे अलग से की गई है। शिक्षा परिषद ने प्रस्ताव रचयिता की पैनी दूरदृष्टि की प्रशंसा करते हुये सभी बदलावों को सहर्ष स्वीकार लिया।

bu cnykoksa dk] ,oa vxys 18 o"kksZ rd fo|klkxj laLd`r dkyst ds çkpk;Z jgus ds dkj.k laLd`r d,yst u flQZ thfor jgk cfYd vkt 168 o"kZ ikj dj og laLd`r fo'ofo|ky; cu dj [kM+k gSA

पाठ्यक्रम सम्बन्धी दूसरा काम था, मातृभाषा के विद्यालयों के लिये पाठ्यक्रम का सुझाव। पहले अंग्रेज शासकों की उपेक्षा की नजर थी मातृभाषा की पढ़ाई पर। शासन के लिये जरूरी अंग्रेज साहबों के कनीय कर्मचारी व अधिकारी अंग्रेजी विद्यालयों, मिशनरी स्कूलों एवं कॉलेजों से मिल ही जा रहे थे। साथ ही, कलकत्ता एवं कुछ बड़े शहरों में निजी तौर पर, राजा राधाकान्त देव एवं अन्य कुछ बड़े लोगों ने हिन्दू बालकों के लिये कई विद्यालय खोले थे क्योंकि उनका आरोप था कि मिशनरी स्कुलों में 'म्लेच्छों' के साथ बैठना पड़ता है और जबर्दस्ती लोग इसाई भी बना डालते हैं। लेकिन इन विद्यालयों का पाठ्यक्रम वही मोटामोटी अंग्रेजी स्कूलों वाला ही था।

जैसे– जैसे अंग्रेज सरकार का शासन गहराई तक पैठते गया, दुभाषिये से काम चलाना दुभर हो गया। मातृभाषा की विधिवत् पढ़ाई किये हुये कर्मचारी की जरूरत बढ़ती गई। लॉर्ड हार्डिंज ने इस दिशा में काम किया और बंगाल, बिहार व ओड़िसा के विभिन्न जगहों पर सौ से अधिक विद्यालय या पाठशाला खोले। पर वे चल नहीं पाये। सरकार ने भी कुछ वर्षों तक इस दिशा में सोचना एवं कोष देना बन्द कर दिया। सरकार ने यह भी सोचा कि क्यों न ग्रामीण पाठशालाओं को ही प्राथमिक विद्यालय में बदल दिया जाय। (बाद में, अपनी टिप्पणी भेजते वक्त विद्यासागर ने इस प्रस्ताव को बेतुका बता कर खारिज कर दिया था क्योंकि बजट बहुत कम रखा गया था और शिक्षकों के लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई थी।)

फिर खबर मिली कि पश्चिमोत्तर राज्यों के कुछ चुनिंदे जिलों में वहाँ के प्रभारी लॉर्ड टोमासन ने इस दिशा में पहल की है और मातृभाषा के विद्यालय वहाँ बढ़िया चल रहे हैं। बंगाल के प्रभारी, छोटा लाट यानी लेफ्टेनैंट गवर्नर थे हैलिडे। वह खुद पहले शिक्षा परिषद में थे एवं शिक्षा में रुचि रखते थे। संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य के रूप में विद्यासागर से उनकी अच्छी मित्रता थी तथा उनकी विद्वता एवं व्यवहारिक ज्ञान दोनों से वह प्रभावित थे। टोमासन की सफलता के बारे में जानने के बाद हैलिडे ने अपनी सरकार से विचार किया कि क्यों न कुछ मॉडल बंगाली स्कूल खोलने के बारे में सोचा जाय एवं इस काम का पूरा जिम्मा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को दिया जाय, क्योंकि बहुत दिनों से विद्यासागर मातृभाषा में शिक्षा की वकालत कर रहे हैं। लेकिन वह अंग्रेज नहीं थे और 'इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स' कोई अंग्रेज ही बन सकता था।

हैलिडे भी काफी जिद्दी थे और विद्यासागर की दृढ़ता को जानते थे। काफी जद्दोजहद के बाद बात बनी कि विद्यासागर रहेंगे तो सहायक इन्स्पेक्टर, लेकिन मॉडल बंगाली स्कूलों के स्थाई स्वतंत्र प्रभार के साथ, जिसके लिये उन्हे संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य की तनख्वाह के साथ अलग से इन्स्पेक्टरी वाली तनख्वाह भी मिलेगी (बाद में इस पद का नाम बदलकर 'दक्षिण बंगाल के विद्यालयों का विशेष निरीक्षक' या 'स्पेशल इन्स्पेक्टर फॉर स्कूल्स ऑफ साउथ बंगाल' कर दिया गया था)। फिर हैलिडे के कहने पर विद्यासागर ने बंगाल के कुछेक जिलों में चप्पा चप्पा छान मारा, गाँववालों से बात की – उन तमाम गाँवों को चिन्हित किया जहाँ मॉडल बंगाली स्कूल खोले जा सकते थे एवं उन गाँवों को भी चिन्हित किया जहाँ आश्वासन मिला कि स्कूल खोले जाने पर गाँववाले खुद अपनी मदद से स्कूल के लिये भवन खड़ा कर देंगे, या मुहैया करा देंगे। फिर उन्होने उन्नीस विन्दुओं का एक विस्तृत नोट दिया जो पूरा का पूरा बंगाल के लेफ्टेनैंट गवर्नर द्वारा अनुशंसित किया गया एवं उनकी अनुशंसा पर भारत सरकार व उसके कोष विभाग ने भी स्वीकार कर लिया।

उस नोट के पहले चार विन्दु पाठ्यक्रम से सम्बन्धित हैं जिनका अनुवाद नीचे दिया जा रहा है। आगे के बिन्दु, शिक्षक नियुक्ति, शिक्षक, सहायक शिक्षक आदि का वेतन एवं अन्य विषयों पर है।

ekr`Hkk"kk esa f'k{kk ij uksV %

1. व्यापक पैमाने पर एवं पूरी क्षमता के साथ मातृभाषा में शिक्षा अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि सिर्फ इसी के जरिये आमजनता कि स्थिति में सुधार लाया जा सकता है।

2. इस शिक्षा में सिर्फ, थोड़ा अंकगणित और थोड़ा पढ़ना–लिखना सिखा देना ही काफी नहीं होगा, शिक्षा को सम्पूर्ण करने के लिये भूगोल, इतिहास, जीवनी, अंकगणित, ज्यामिति, नैसर्गिक दर्शन, नैतिक दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र एवं शरीर विज्ञान की शिक्षा भी देनी होगी।

3. शुरुआती पुस्तकें जो प्रकाशित हो चुके हैं और जिन्हे पाठ्यपुस्तकों के रूप शामिल किया जा सकता है, निम्नलिखित हैं:–

प्रथम – शिशुशिक्षा, पाँच भागों में। पहला तीन भाग वर्णमाला, हिज्जे एवं पाठ सिखाते हैं। चौथा भाग एक निबंध है ज्ञान के मूल बातों पर। पाँचवाँ, 'चेम्बर्स शिक्षाक्रम' के नैतिक पाठ्यपुस्तक का स्वच्छंद अनुवाद है।

द्वितीय – पश्वावली, पशुओं का प्राकृतिक इतिहास।

तृतीय – बंगाल का इतिहास, मार्शमैन रचित पुस्तक का स्वच्छन्द अनुवाद।

चतुर्थ – चारुपाठ, आवश्यक एवं मनोरंजक विषयों पर पाठमाला।

पंचम – जीवनचरित, 'चेम्बर्स एक्जेम्प्लरी बायोग्रफी' से कोपरनिकस, गैलीलिओ, न्यूटन, सर विलियम हेर्शेल, ग्रॉश्यस, लिनॉस, डुवल, सर विलियम जोन्स एवं थॉमस जेन्किन्स के जीवनियों का स्वच्छंद अनुवाद।

4. अंकगणित, ज्यामिति, नैसर्गिक दर्शन पर पुस्तकें तैयार किये जा रहे हैं। भूगोल, राजनैतिक अर्थशास्त्र एवं शरीर विज्ञान पर निबंध तथा ऐतिहासिक कार्य एवं जीवनियाँ अभी संगृहित किये जाने हैं। फिलहाल, भारत, युनान, रोम एवं इंग्लैंड का इतिहास काफी होगा।

इसके बाद भी विद्यासागर पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुझाव देते रहे। मुख्य बात यह है कि न सिर्फ बंगाल बल्कि पूरे भारत में शिक्षाविदों द्वारा आम छात्र–छात्राओं के लिये मातृभाषा से लैस, आधुनिक एवं बेहतर रोजगार पाने की दृष्टि से आवश्यक शिक्षा का पाठ्यक्रम तैयार किये जाने का सिलसिला उन्होने ही शुरू किया।

●

AA nk AA
f'k{kk % fo|ky; dh LFkkiuk

अंग्रेज सरकार द्वारा सहायक स्कूल इन्स्पेक्टर नियुक्त किये जाने के बाद, जैसा कि उपर में कहा गया, आदर्श बंगविद्यालय या मॉडल बंगाली स्कूल खोलने के लिये विद्यासागर ने कई जिलों में गाँवों का दौरा किया। लेकिन, इस प्रसंग पर जाने से पहले इस बात का जिक्र कर देना जरूरी है कि पहले भी वह अपनी आय से विद्यालय खोलते रहे। विद्यासागर के जीवनीकार सुबल चन्द्र मित्र लिखते हैं:

"सन 1853 में विद्यासागर ने अपने जन्मस्थल वीरसिंहो गाँव में एक निःशुल्क विद्यालय स्थापित किया। साथ ही इस विद्यालय के साथ, खेतिहरों के लड़कों के लिये एक रात्रिकालीन विद्यालय भी संलग्न किया। अपने पैसों से उन्होने विद्यालय के लिये जमीन का एक टुकड़ा खरीदा। खुद उन्होने भवन की आधारशिला रखी। उसी समय उन्होने एक बालिका विद्यालय भी शुरू किया। इन सभी विद्यालयों के लिये खर्चे वह खुद करते थे।......" वीरसिंहो गाँव में खोले गये विद्यालयों की चर्चा आगे के पन्नों में, 'जनशिक्षा' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार से करेंगे।

दूसरी बात, मातृभाषा पर आधारित शिक्षा को पहली बार लागू करने का श्रेय तो पश्चिमोत्तर प्रांत के लेफ्टेनैंट गवर्नर लॉर्ड टोमासन को मिलेगा, और मिलना भी चाहिये। उन्होने पूरे पश्चिमोत्तर में लगभग नौ–सौ विद्यालय खुलवाये। पंजाब के विद्यालयों में तो तीन–तीन मातृभाषा, गुरुमुखी, उर्दू एवं हिन्दी में पढ़ाई होती थी। लेकिन उन विद्यालयों के पाठ्यक्रमों को विद्यासागर ने खारिज कर दिया। उनकी स्पष्ट राय थी कि मातृभाषा में शिक्षा के नाम पर यह शिक्षा सिर्फ पढ़ना, लिखना, बही खाता समझने लायक अंकगणित तक सीमित नहीं रहनी चाहिये बल्कि वह पूरा पाठ्यक्रम होना चाहिये जो उन्होने सुझाया था।

सन 1854 के 3 जुलाई तारीख को विद्यासागर ने बंगाल के लेफ्टेनैंट गवर्नर के निजी सचिव एच० सी० जेम्स को एक पत्र लिखा: "बंगाल के माननीय लेफ्टेनैंट गवर्नर द्वारा मुझे दिये गये मौखिक निर्देशानुसार, पिछले दिनांक 21 मई से 11 जून तक, विचारे गये मातृभाषा विद्यालय स्थापित करने के उपयुक्त गाँव एवं शहरों को चुनने के लिये मैंने हुगली जिला के विभिन्न जगहों का भ्रमण किया। मेरा आपसे अनुरोध है कि यह प्रतिवेदन उनके समक्ष प्रस्तुत किया जाय।"

विद्यासागर के एक और जीवनीकार इन्द्र मित्र बताते हैं, ''उस दौरान संस्कृत कॉलेज में छुट्टी थी एवं विद्यासागर उस एक दौरे में सियाखाला, राधानगर, कृष्णनगर, क्षीरपाई, चन्द्रकोणा, श्रीपुर, कामारपुकुर, रामजीवनपुर, मायापुर, मलयपुर, केशवपुर, पातिहाल आदि गाँव घूम आये। सभी गाँव के बाशिन्दों ने अपने गाँव में विद्यालय खोले जाने की बात पर उत्साह जताया एवं कईयों ने अपने खर्चे से भवन खड़ा कर देने का वादा भी किया। कॉलेज की छुट्टियाँ खत्म हो रही थी इसलिये वह कलकत्ता लौट आये लेकिन पूछ्ताछ के द्वारा उन्होंने नदिया, बर्धमान एवं चौबीस परगना जिलों के भी विभिन्न गाँवों की खबर ली तथा उन गाँवों का नाम अपने प्रतिवेदन में शामिल किया।''

ब्रजेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय रचित 'विद्यासागर प्रसंग' में सरकारी दस्तावेज से उद्धृत की गई एक सूची है जिसमें विद्यासागर द्वारा स्थापित आदर्श विद्यालय के स्थापना की तारीख और जगह दी गई है।

"मॉडेल स्कूल	स्थापना की तारीख	मॉडेल स्कूल	स्थापना तारीख
नदिया जिला		**हुगली जिला**	
बेलघरिया	22 अगस्त 1855	हाराप	28 अगस्त 1855
महेशपुर	01 सितम्बर 1855	शिआखाला	14 सितम्बर 1855
भजनघाट	4 सितम्बर 1855	कृष्णनगर	28 सितम्बर 1855
कूपदह या खानटुआ	11 सितम्बर 1855	कामारपुकुर	28 सितम्बर 1855
देवग्राम	12 सितम्बर 1855	क्षीरपाई	01 नवम्बर 1855
वर्धमान जिला		**मेदिनीपुर जिला**	
आमादपुर	26 अगस्त 1855	गोपालनगर	01 अक्तूबर 1855
जौग्राम	27 अगस्त 1855	वासुदेवपुर	01 अक्तूबर 1855
खन्डघोष	01 सितम्बर 1855	मालंच	02 नवम्बर 1855
मानकर	03 सितम्बर 1855	प्रतापपुर	17 दिसम्बर 1855
दाँईहाट	21 अक्तूबर 1855	जकपुर	14 जनवरी 1856

यह सिर्फ पहले अभियान का खाका है जो 24 जनवरी 1856 के सरकारी प्रतिवेदन में छपा था। उसके बाद भी विद्यालय खुलते गये। जानकार बताते हैं कि विद्यासागर ने एक सौ से अधिक आदर्श बंगविद्यालय अपने सहायक स्कूल इन्स्पेक्टरी के दौरान स्थापित किये थे एवं इनके अलावे उनके कार्य से प्रेरित होकर जहाँ कहीं भी आर्थिक तौर पर सम्पन्न व्यक्तियों ने विद्यालय खोलने की इच्छा व्यक्त की उन्होने उसे सफल करने में पूरा मेहनत किया। खुद भी कईयों को प्रेरित किया आर्थिक व अन्य सहायता देने के लिये ताकि वह विद्यालय स्थापित कर सकें। ●

AA rhu AA

f'k{kk % ckfydk fo|ky;k dh LFkkiuk

बालिकाओं के लिये भी सीमित संख्या में मिशनरी स्कूल थे और बड़े लोगों के निजी उद्योग से स्थापित हिन्दू लड़कियों के लिये बालिका विद्यालय थे। सन 1824 में छपा था 'स्त्रीशिक्षा विधेयक' नाम के एक पर्चे का तीसरा संस्करण। यह पर्चा हिन्दू स्त्रियों को पढ़ाई के लिये प्रेरित करने हेतु बनाया गया था। उसी में जिक्र है कि 1820 में पहला विद्यालय 'जुवेनाइल विद्यालय' बनने के बाद लड़कियों के लिये भी विद्यालय खोले गये। सन 1823–24 में पचास बालिका विद्यालय थे जिनमें कुल मिला कर 800 लड़कियाँ पढ़ती थीं। लेकिन बालिकाओं का पाठ्यक्रम बस बोलने लिखने लायक मातृभाषा, धर्मग्रंथ, सिलाई, कढ़ाई सिखाने वाला था। विद्यासागर का मॉडल बंगाली स्कूलवाला नया पाठ्यक्रम नारी शिक्षा में क्रांतिकारी गति ले आया।

जीवनीकार ब्रजेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का प्रिय एक संस्कृत श्लोक का हिस्सा उद्धृत करते हैं, "कन्यापेवं पालनीया शिक्षणियातियत्नतः", कि यही विद्यासागर को प्रेरित करता रहा। वह बताते हैं कि सन 1849 में सर जे० ई० डी० बेथुन ने कलकत्ते में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया। शुरू से ही उन्हे विद्यासागर का सहयोग मिला। बेथुन साहब अंग्रेज सरकार के शिक्षा परिषद के भी अध्यक्ष थे। उन्होंने विद्यासागर से आग्रह किया कि वह बेथुन गर्ल्स स्कूल (उस वक्त का नाम था 'हिन्दु गर्ल्स स्कूल') के मानद सचिव बन जायें। विद्यासागर ने सचिव के रूप में काम शुरू किया। शहर के परिवारों को आकर्षित करने के लिये उन्होने लड़कियों को स्कूल ले आने वाली गाड़ी के दोनों ओर उपरोक्त श्लोक "कन्यापेवं पालनीया शिक्षणियातियत्नतः" खुदवा दिया। बेथुन साहब के जिन्दा रहते एवं उनके मरने के बाद जब सरकार ने स्कूल का परिचालन सिसिल बीडन के हाथों में सौंपा तब भी स्कुल को बेहतर बनाने में, छात्राओं की संख्या बढ़ाने में, परिचित परिवारों को प्रोत्साहित करने में कि वे अपनी बच्चियों को स्कूल भेजें, व्यक्तिगत प्रयत्न के साथ विद्यासागर जुटे रहे।

उधर इंग्लैन्ड के सरकारी महकमे में एक पक्ष भारत में नारी शिक्षा को आगे बढ़ाने की वकालत कर रहा था। बंगाल के लेफ्टेनैंट गवर्नर हैलिडे चूंकि खुद इस पक्ष में थे इसलिये उन्होने विद्यासागर से सहायता मांगी। बस, और क्या चाहिये था! नारी शिक्षा के प्रबल समर्थक तो वह थे ही। बालिका विद्यालय खोलने कि दिशा में वह तेजी से आगे बढ़ गये। ब्रजेन्द्रबाबू लिखते हैं, "नवम्बर 1857 से मई 1858 – इन कुछ महीनों में विद्यासागर 35 बालिका विद्यालय खोले, उनमें हुगली जिला के विभिन्न गाँवों में 20, वर्धमान जिले में 11, मेदिनीपुर जिले में 3 और नदिया जिले में 1 विद्यालय शामिल थे। विद्यालयों के लिये महीने में 845 रुपये खर्च होते थे, छात्राओं की संख्या थी लगभग 1300।" शायद रुचिकर हो, उन विद्यालयों की तालिका भी ब्रजेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय की उपरोक्त जीवनी के सौजन्य से नीचे प्रस्तुत है।

गाँव	**स्थापना की तारीख**	**गाँव**	**स्थापना की तारीख**
	हुगली जिला		
पोटवा	24 नवम्बर 1857	दासपुर	26 नवम्बर 1857
बैंची	01 दिसम्बर 1857	दिगशुइ	07 दिसम्बर 1857
तालान्डु	07 दिसम्बर 1857	हातिना	15 दिसम्बर 1857
हयेरा	15 दिसम्बर 1857	नवपाड़ा	30 जनवरी 1858
उदयराजपुर	02 मार्च 1858	रामजीवनपुर	16 मार्च 1858
आकाबपुर	28 मार्च 1858	शियाखाला	01 अप्रैल 1858
माहेश	01 अप्रैल 1858	बीरसिंहो	01 अप्रैल 1858
गोयालसारा	04 अप्रैल 1858	दन्डीपुर	05 अप्रैल 1858
देपुर	01 मई 1858	राउजापुर	01 मई 1858
मलयपुर	12 मइ 1858	विष्णुदासपुर	15 मई 1858
	नदिया जिला		
नदिया	01 मई 1858		
	वर्धमान जिला		
रानापाड़ा	01 दिसम्बर 1857	जामुइ	25 जनवरी 1858
श्रीकृष्णपुर	26 जनवरी 1858	राजारामपुर	26 जनवरी 1858
ज्योत–श्रीरामपुर	27 जनवरी 1858	दाँइहाट	01 मार्च 1858
काशीपुर	01 मार्च 1858	सानुइ	15 अप्रैल 1858
रसुलपुर	26 अप्रैल 1858	बन्तीर	27 अप्रैल 1858
बेलगाछी	01 मई 1858		

मेदिनीपुर जिला

भांगाबांध 01 जनवरी 1858 बदनगंज 10 मई 1858
शान्तिपुर 15 मई 1858

गौरतलब है कि ब्रजेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय के पुस्तक में सरकारी दस्तावेज के हवाले से जो सूची उपलब्ध कराई गई है उसमें हर विद्यालय के स्थान एवं स्थापना की तारीख के साथ उस विद्यालय पर आ रहे मासिक खर्च का भी जिक्र है। यह इसलिये कि यही खर्च बाद में विद्यासागर के अंग्रेज सरकार से क्षुब्ध होकर नौकरी से इस्तीफा देने का मुख्य कारण बना।

दरअसल विद्यासागर, अंग्रेज सरकार का नारी शिक्षा के प्रति झुकाव एवं लेफ्टेनैंट गवर्नर हैलिडे का उनके काम के प्रति पूर्ण समर्थन के भरोसे बालिका विद्यालय स्थापित करते चले गये एवं समय समय पर प्रतिवेदन बंगाल सरकार को भेजते चले गये। बंगाल सरकार की भी लापरवाही थी कि उसने इसके खर्च पर भारत सरकार से स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त किये। जब यह सवाल आया तब तक कुल खर्च, सभी विद्यालयों का मिलाकर तीन हजार रुपयों से अधिक हो गया। कम्पनी की भारत सरकार 1857 के गदर के दमन के बाद तंगी में भी आ गई थी और नारी शिक्षा ही क्यों, शिक्षा के ही सवाल पर उदासीन हो गई थी। बंगाल सरकार की अनुशंसा के बावजूद उसने बालिका विद्यालयों का खर्च देने से इन्कार कर दिया। विद्यासागर ने क्षुब्ध होकर बंगाल सरकार को पत्र लिखा। अन्ततः बंगाल सरकार के विशेष अनुरोध पर कम्पनी की सरकार ने तीन हजार रुपये तो दे दिये पर आगे का खर्च उठाने से मना कर दिया। सरकारी दस्तावेज में छपी सूची में खर्च का जिक्र आया ही इसलिये था क्योंकि सूची, सरकारी महकमे में खर्च के जिक्र के साथ बनी थी।

खैर, क्षुब्ध होकर विद्यासागर ने एक एक कर सहकारी स्कूल इन्स्पेक्टरी छोड़ दी, संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य का पद छोड़ दिया (नवम्बर 1858), बाद में उसके परीक्षकों के बोर्ड से भी पदत्याग कर दिया, यानी पूरी तरह से सरकारी नौकरी छोड़ दी।

पदत्याग करते समय साहबों ने समझाया कि अभी पदत्याग करने पर पेंशन नहीं मिलेगी, थोड़ा रुक जाइये पर विद्यासागर ने साफ जबाब दिया कि जरूरत पड़ेगी तो भूखे रहेंगे पर नीतियों पर मतविरोध हो गया तो एक क्षण अब इस पद पर नहीं रहेंगे। इन्स्पेक्टरी भी इसी

तरह छोड़ी क्योंकि सरकार ने यथोचित कोष मुहैया कराना बन्द कर दिया था। साथ ही, आगे प्रोन्नत होकर मुख्य निरीक्षक बनने का भी कोई अवसर नहीं था कि नये कन्या विद्यालयों को खोलने की समस्या को सुलझाने में सहुलियत हो। फिर भी, सरकार ने जब भी शिक्षा के क्षेत्र में उनको सुझाव देने के अनुरोध किया उन्होंने सुझाव दिया। ज्ञातव्य हो कि बाद में 'वूड्स डेसपैच' के नाम से प्रख्यात जिन अनुशंसाओं के तहत अंग्रेज सरकार ने पूरे भारत में सरकारी विद्यालय खोलने, कन्या विद्यालय खोलने, निजी प्रयासों से खोले जाने वाले विद्यालयों को आर्थिक मदद देने आदि की नीति अपनाई, उक्त 'वुड्स डेसपैच' का आधार था ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा दिये गये सुझाव।

अब विद्यासागर ने अपने ढंग से काम करना शुरू किया। सबसे पहले उन्होने बालिका विद्यालयों का खर्च उठाने के लिये एक 'नारीशिक्षा प्रतिष्ठान भंडार' स्थापित किया। इस भंडार में कई बड़े जमींदार (राजा), सम्भ्रांत लोग एवं उँचे पद पर बैठे सरकारी कर्मचारी नियमित चन्दा देते थे। यहाँ तक कि तत्कालीन लेफ्टेनैंट गवर्नर सेसिल बीडन भी महीने में 55 रुपये देते थे।

कुछ दिनों बाद सर बार्टल फ्रियर को लिखे गये एक पत्र में विद्यासागर ने लिखा, "सुनकर आप प्रसन्न होंगे कि मुफस्सिल के जिन बालिका विद्यालयों के लिये आपने चन्दा दिया था, वे बढ़िया से चल रहे हैं। आस पास के जिलों के लोग नारीशिक्षा के महत्व को समझने लगे हैं। बीच बीच में नये विद्यालय भी खोले जा रहे हैं।" (विद्यासागर प्रसंग, ब्रजेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय, पृ.: 57—58)

नारी शिक्षा पर विद्यासागर ने जितनी तेजी से व्यापक पैमाने पर काम किया यह तो उनके चरित्र का गुण था। साथ ही, उनके काम का महत्व इसमें था कि जबकि पहले के बालिका विद्यालयों, पाठशालाओं आदि में सामान्य अक्षरबोध, धर्मग्रंथों का पाठ वगैरह सिखाया जाता था, विद्यासागर द्वारा खोले गये बालिका विद्यालय उनके नये पाठ्यक्रम पर आधारित थे जिसमें गणित, विज्ञान, राजनीतिक अर्थशास्त्र, साधारण ज्ञान आदि शामिल था। b lh dk Qy Fkk fd mudk fn'kkfunsZ'kku lkj cus cFkqu dU;k fo|ky; ls mÙkh.kZ gksdj Hkkxyiqj dh cVh dknfEcuh clq ¼xkxqyh½ vkxs py dj u flQZ Hkkjr cfYd ,f'k;k dh igyh efgyk fpfdRld cuhA

●

AA pkj AA

f'k{kk % f'k{kd çf'k{k.k fo|ky;ksa dh LFkkiuk

लगातार मातृभाषा पर आधारित आदर्श विद्यालय एवं आगे बालिका विद्यालय स्थापित करने का सिलसिला शुरू करते ही उन्हें प्रतीत हुआ कि इन विद्यालयों के लिये सही ढंग से प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता होगी और इसके लिये विशेष शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों की आवश्यकता होगी। इन विद्यालयों को उस समय नॉर्मल स्कूल कहा जाता था। आज भी विदेशों में कहा जाता है। भारत में हम इन्हे टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल या कॉलेज के नाम से जानते हैं।

नॉर्मल स्कूल खोलने के लिये विद्यासागर ने सरकार से बातचीत शुरू की। संस्कृत कॉलेज के भीतर पहले से एक पाठशाला चल रहा था। वह खुद कॉलेज के सचिव थे। सो, उन्हे बस सरकार से अनुमति प्राप्त करनी थी। अन्ततः कागजी कार्रवाईयों के पूरे होने के बाद, सन 1855 के 17 जुलाई को संस्कृत कॉलेज के परिसर में, हर छः माह पर 60 शिक्षक प्रस्तुत करने वाला भारत का पहला शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय या नॉर्मल स्कूल खोला गया, जिसमें उच्च श्रेणियों का जिम्मा था स्कूल के प्रधानाध्यापक अक्षय कुमार दत्त (बंगला भाषा के एक प्रख्यात लेखक) पर एवं निम्न कक्षाओं का भार था शिक्षक मधुसूदन वाचस्पति पर। यह पहला नॉर्मल स्कूल सिर्फ पुरुषों के लिये (एवं तत्कालीन सीमाओं में सिर्फ हिन्दु उँची जातियों के लिये) था।

महिलाओं (शिक्षिकाओं) को प्रशिक्षित करने के लिये नॉर्मल स्कूल बनने की अलग ही कहानी है। एक यूरोपीय महिला थी मिस मेरी कार्पेन्टर जो 1866 में भारत आई थी, वह भारतीय नारियों की शिक्षा को लेकर काफी उत्साही एवं प्रयत्नशील थीं। विद्यासागर के बारे में जान कर वह विद्यासागर से मिली, उनसे मित्रता की एवं उनके साथ घूम घूम कर कई बालिका विद्यालयों का परिदर्शन किया। परिदर्शन के दौरान दोनों की बातचीत भी हुई कि महिलाओं को प्रशिक्षित करने के लिये भी एक नॉर्मल स्कूल होना चाहिये। यह भी सोचा गया कि इसके लिये बेथून स्कूल ही बेहतर परिसर होगा। मिस कार्पेन्टर ने अपने उत्साह से इस

बात को अपने कुछ ब्रह्म समाजी मित्रों के बीच रखा। उन्होने इसे सहर्ष स्वीकार लिया एवं जल्दी जल्दी में एक बैठक बुला कर प्रस्ताव बनाया तथा सरकार के पास भेज दिया। उन्होने जो कमिटी सुझाई थी उसमें विद्यासागर का भी नाम था लेकिन विद्यासागर ने इस कमिटी से अपना नाम वापस ले लिया। बाद में सरकार के द्वारा उपरोक्त प्रस्ताव पर जब उनकी राय मांगी गई तब उन्होने स्पष्ट कहा कि इस तरीके से जल्दी जल्दी में प्रस्ताव लिये जाने से उनका विरोध है। जो उच्च जाति के हिन्दु परिवार अपनी बेटी को शैशवावस्था में विद्यालय भेजने से कतराते हैं वे युवावस्था में बेटियों को शिक्षिका बनने के लिये नॉर्मल स्कूल भेजेंगे? हाँ, हो सकता है कि कुछ हिन्दु विधवायें आयें। पर क्या उनसे स्कूल संभलेगा? इसीलिये, विद्यासागर ने लिखा, उन्होंने स्पष्ट राय दी थी कि हिन्दु समाज के कुछ गण्यमान्य व्यक्तियों को आमंत्रित कर, उनसे राय विचार कर, उनकी सहमति से प्रस्ताव बनाया जाय। फिर भी विद्यासागर, इस काम में जो भी सहयोग मांगा जायेगा, देंगे। वैसे, वह समझते हैं कि इस तरह बनाया गया महिलाओं का नॉर्मल स्कूल चल नहीं पायेगा।

हुआ भी यही। सरकार द्वारा सहयोग दिये जाने के बावजूद, पढ़ी लिखी लड़कियाँ भी शिक्षिका बनने के लिये कम ही आईं और कुछेक वर्षों के बाद महिलाओं का वह फीमेल नॉर्मल स्कूल 1871 में बन्द हो गया। लेकिन विद्यासागर चाहते थे कि फीमेल नॉर्मल स्कूल चले। इसलिये उनकी मृत्यु के बाद कलकत्ता की महिलाओं द्वारा बनाई गई विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति के सम्पादक की ओर से बेथून स्कूल कमिटी को 1670 रुपये भेजे गये। आशय था कि कोई हिन्दू बालिका विद्यालय की छात्रा अगर शिक्षिका बनने के लिये प्रवेशिका परीक्षा देने को आग्रही हो तो इस राशि की आय से उसे अगले दो वर्षों तक वृत्ति दी जाय।

यहीं पर यह भी बता दें कि उपरोक्त मेरी कार्पेन्टर को विद्यालय परिदर्शन कराने के दौरान ही विद्यासागर एक दुर्घटना का शिकार हुये। घोड़ागाड़ी से गिर पड़े एवं पेट व पैर में गंभीर चोट के कारण बेहोश हो गये। इस चोट ने विद्यासागर को बाकी जीवन के लिये पेट से बीमार एवं एक पैर से थोड़ा कमजोर कर दिया। इस दुर्घटना के बाद वह आजीवन थोड़ा अधिक अस्वस्थ भी रहने लगे। ●

AA ikpAA
f'k{kk % tuf'k{kk dh fn'kk e

कम्पनी और फिर अंग्रेज सरकार की नीतियों पर इंग्लैन्ड में हो रहे हलचलों का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता रहता था। ऐसे ही एक प्रभाव के कारण सरकारी महकमों में चर्चा होने लगी कि शिक्षा को गरीब, श्रमजीवी, आम जनता के बीच पहुँचाई जाय। सम्बन्धित परिपत्र विद्यासागर के पास भी पहुँचा। विद्यासागर न तो कुलीनतावादी थे और न ही निराशावादी। लेकिन उन्हे बिल्कुल ही विश्वास नहीं था कि अंग्रेज सरकार जनशिक्षा को लेकर वास्तविक तौर पर गंभीर है, क्योंकि वह स्पष्टतः जानते थे कि जनशिक्षा तभी सफल होगी जब वह पूर्णतः निःशुल्क हो। दूसरी तरफ उन्हे लगता था कि भारत में अभी (यानी उस समय) पूरी जनता की सामान्य साक्षरता या कामचलाऊ शिक्षा से अधिक जरूरी है, बच्चों को पढ़ाने में सक्षम वर्गों से आ रहे छात्र–छात्राओं की, प्राचीन भारतीय वाङमय एवं आधुनिक यूरोपीय ज्ञान, दोनों से लैस, गुणवत्ता पूर्ण उच्चशिक्षा ताकि वे समाज को सामाजिक–सांस्कृतिक नेतृत्व एवं दिशा दे सकें। उन्होने सरकार को भेजे गये एक प्रतिवेदन में कहा भी, कि गरीब जनता के बीच शिक्षा को जाने के लिये उसे पूर्णतः निःशुल्क होना होगा, जबकि कोई सरकार उस खर्च को वहन नहीं करना चाहती। उन्होने खुद इंग्लैन्ड का उदाहरण दिया! पूछा, कि जिसकी सरकार यहाँ की जनता को शिक्षित करना चाहती है उसकी अपनी धरती पर क्या हाल है? इतने बड़े विद्वानों को पैदा करने वाले देश में, दुनिया पर राज करने वाले देश में इतनी अधिक संख्या में निरक्षर और अनपढ़ लोग क्यों हैं?

दिनांक 29 सितम्बर 1859 को उन्होने बंगाल सरकार के कनीय सचिव रिवर थॉम्पसन को जो पत्र लिखा वह हमें इन्द्र मित्र रचित जीवनी, 'करुणासागर विद्यासागर' में मिलता है। पत्र में विद्यासागर कनीय सचिव द्वारा जारी गश्तीपत्र संख्या 288, दिनांकित 17 जून 1859 की प्राप्ति स्वीकारते हैं। आगे लिखते हैं कि "प्रति विद्यालय 5 से 7 रुपयों के सीमित माहवारी खर्च पर बंगाल की आमजनता के लिये सस्ते विद्यालय खोलने का प्रस्ताव, देश की वर्तमान अवस्था में लगभग अव्यवहारिक है। क्योंकि, महज पढ़ना, लिखना और थोड़ा अंकगणित भी

सफलता के साथ सिखा पाने वाला आदमी इतने कम वेतन पर सेवा स्वीकार नहीं करेगा, चाहे उसका अपने गाँव से कितना भी जुड़ाव हो।" फिर आगे वह जनशिक्षा पर अपनी सोच रखते हैं।

"पश्चिमोत्तर प्रान्तों में चलने वाले हलकाबन्दी विद्यालयों की प्रणाली के बारे में सही सूचनायें मुझे उपलब्ध नहीं है। लेकिन यह मानते हुये कि वही प्रणाली बिहार के विद्यालयों में भी लागू की गई है, मैं कहना चाहूंगा कि वह बंगाल में चलने वाले देशी विद्यालयों (पाठशालाओं–व०ले०) की ही जैसी है। बिहार के विद्यालयों में, मैं जितना समझ रहा हूँ, पुरा पाठ्यक्रम सिर्फ पत्र लिखने एवं जमींदार व दुकानदारों का खाताबही लिखने तक सीमित है। इन विद्यालयों से बंगाल के विद्यालयों का बस इतना फर्क है कि बिहार के विद्यालयों में कुछ बेहतर, छपी हुई किताबें नाम के वास्ते इस्तेमाल की जाती है। अगर शिक्षा की ऐसी ही प्रणाली बंगाल में लागू करना सरकार का उद्देश्य है तो (पाठशालाओं के) गुरु महाशयों को थोड़ा माहवारी वेतन दे देने, कुछ छपी किताबों को उन विद्यालयों में चालू करने एवं उन स्कूलों को सरकारी निरीक्षण के अन्तर्गत लाने से ही उद्देश्य पूरा हो जायेगा। लेकिन मैं जरूर कहूंगा कि वैसी शिक्षा, महत्वहीन तो होगी ही, जनता के बीच, अगर जनता का अर्थ श्रमजीवी वर्ग हैं तो, प्रसारित भी नहीं होगी। क्योंकि, अभी भी इन वर्गों के छात्र, बंगाल और बिहार के विद्यालयों में नाममात्र ही मिलते हैं।

"इस यथार्थ का कारण है श्रमजीवी वर्गों की स्थिति। उनकी स्थिति इतनी बुरी है कि अपने बच्चों की शिक्षा पर वे कुछ भी खर्च नहीं कर सकते। न ही वे अपने लड़कों को, किसी भी किस्म का काम करने लायक उम्र तक पहुँचने के बाद, विद्यालय में रखेंगे। क्योंकि तब वे कुछ कमायेंगे, कितना भी कम क्यों न हो। वे सोचते हैं, और शायद सही सोचते हैं कि उनके बच्चे थोड़ा लिखना पढ़ना सीख जाने से उनकी स्थिति बेहतर नहीं हो जायेगी। इसी लिये उन्हे अपने बच्चों को विद्यालय भेजने में कोई आग्रह नहीं होता। यह उम्मीद करना अतिशय होगा कि सिर्फ ज्ञान प्राप्त करने के लिये वे अपने बच्चो को शिक्षित करेंगे जबकि उच्चतर वर्ग भी अभी तक शिक्षा के लाभों को सही ढंग से नहीं समझते हैं। ऐसी परिस्थिति में श्रमजीवी वर्गों को शिक्षित करने की कोशिश अनावश्यक है। हाँ अगर सरकार वास्तव में इस दिशा में प्रयोग करना चाहती है तो उसे पूर्णतः निःशुल्क शिक्षा देने को तैयार होना होगा।"

इस दिशा में, यानि गरीबों के लिये पूर्णतः निःशुल्क शिक्षा मुहैया कराने की दिशा में, विद्यासागर द्वारा उनके अपने पैतृक गाँव वीरसिंहो में

किये गये काम का ऐतिहासिक महत्व है। विद्यासागर के एक जीवनीकार, उनके अपने सहोदर शम्भूचन्द्र विद्यारत्न इस प्रसंग पर लिखते हैं:

"अग्रज महाशय बचपन से ही इस बात को लेकर मन ही मन आलोड़ित रहते थे कि अपनी जन्मभूमि वीरसिंहो एवं आसपास के गाँवों के निवासी लोगों एवं बालकों के दिमाग का अंधेरा दूर करने के लिये विद्यालय स्थापित करेंगे। लेकिन पैसों के अभाव के कारण यह बात वह कभी किसी से बोल नहीं पाये। अभी उन्हे महीना में तीन सौ रुपये वेतन मिल रहा था और बेतालपंचविंशति, जीवनचरित, बांग्लार इतिहास, उपक्रमणिका, बोधोदय आदि पुस्तकों की बिक्री से लाभ भी अच्छा हो रहा था। इसी कारण से, चारों भाईयों के साथ फागुन के महीने में जलमार्ग से उलुबेड़े, गेंयोखालि, तमोलुक, कोला, बाकसी, गोपीगंज होते हुये तीसरे दिन घाँटाल में नाव से उतरे और घर पहुँचे। घर पहुँचकर पिता से उन्होने कहा, 'एक अरसा पहले आप अक्सर इच्छा व्यक्त करते थे कि गाँव में टोल (परम्परागत ग्रामीण विद्यालय) बना कर आप गाँव के लोगों को विद्या दान करेंगे। अब आपके आशीर्वाद से मेरी स्थिति अच्छी हुई है, इसलिये वीरसिंहो में एक विद्यालय खोलना चाहता हूँ।' यह सुन कर माँ और पिताजी बहुत खुश होकर भैया का चेहरा चूम कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त किये। अगले दिन विद्यालय का स्थान तय हुआ। जमीन के मालिक रामधन चक्रवर्ती एवं अन्यान्य को कीमत चुका कर भैया जमीन की बिक्री का केवाला लिखवा लिये। उसके अगले दिन मजदूर नहीं मिला देखकर भैया खुद सभी भाईयों को लेकर मिट्टी कोड़ने में लग गये। बाद में, जल्द से जल्द विद्यालय के निर्माण के लिये पिताजी को एक हजार से कुछ अधिक रुपये देकर कलकत्ता वापस चले गये।

"सन 1853 के चैत में गर्मी की छुट्टी के पूर्व, मध्यम और तीसरा भाई तथा उस समय घर के जो भी सगे-सम्बन्धी संस्कृत कॉलेज के उच्च कक्षाओं में पढ़ रहे थे, उन सब को उन्होने गाँव के बालकों की शिक्षा का कार्य करने के लिये भेजा। विद्यालय का भवन तैयार होने में और चार महीने लगते, इसलिये गाँव में अपने आवास तथा आसपास के पड़ोसियों के आवासों में फागुन की माह में वीरसिंहो का विद्यालय प्रारंभ हुआ। इसके पहले इस इलाके में कोई विद्यालय स्थापित नहीं हुआ था। स्थानीय लोगों के मन में अंधविश्वास था कि विद्यालय में पढ़ाई करने से वे इसाई बन जायेंगे। कुछ लोग कहते थे कि बच्चे नास्तिक हो जायेंगे। किसी किसी भट्टाचार्य का संस्कार था कि जाति भ्रष्ट हो जायेगा। और भी कैसी कैसी बातें करने लगे लोग।

"उस समय वीरसिंहो गाँव के लोगों की आर्थिक स्थिति बुरी थी। सद्गोप लोग कृषिकर्म कर दिन बिताते थे। उनके बच्चे चरवाही करते थे, कई दूसरों के खेतों में मजदूरी करते थे। कई परिवारों को शाम तक अन्न जुटाना दुभर हो जाता था। जो भी हो, विद्यालय स्थापित होने के पाँच-सात दिनों के अन्दर सौ से अधिक बच्चे पढ़ने के लिये विद्यालय में प्रवेश किये। क्रमशः, आसपास के पथरा, उदयगंज, कुराण, गोपीनाथपुर, यदुपुर, दन्डीपुर, इड़पाला, दीर्घग्राम, सातत्तँतुल, आमड़ापाट, पुड़शुड़ी, मामरुल, आकपपुर, आगर, राधानगर, क्षीरपाई आदि गाँवों से काफी बालक विद्यालय में प्रवेश लेने लगे। बहुतों की ऐसी स्थिति नहीं थी कि पाठ्यपुस्तक खरीदें। विद्यालय निःशुल्क किया गया। अग्रज महाशय, कलकत्ता से तीन सौ से अधिक बालकों के लिये पाठ्यपूस्तक, कागज एवं स्लेट आदि बेझिझक भेजते थे। अपने गाँव में जिन छात्रों को पहनने के कपड़ों का अभाव था, उन्हे कपड़े खरीद देने के लिये उन्होने मुझे आदेश दिया। उस समय, दूर दराज में अध्यापन कार्य करने वाले कई शिक्षकों के पुत्र इस विद्यालय में अध्ययन हेतु चले आये।

"जो लोग दूसरों के घरों में, मजदूरी लेकर दिन में उनकी चरवाही करते थे, उन्हे पढ़ाई-लिखाई सिखाने के लिये अग्रज ने नाईट-स्कूल स्थापित किया। उस स्कूल में शाम से रात के दो पहर तक के लिये दो शिक्षक नियुक्त थे, निःशुल्क पुस्तकें देनी पड़ती थी, और इन सभी चीजों में जो खर्च होता उसका निर्वाह स्वयं अग्रज महाशय करते थे।....

"उस समय इस प्रांत की महिलायें लिखती-पढ़ती नहीं थी। वीरसिंहो में सबसे पहले बालिका विद्यालय की स्थापना हुई। सभी बालिकाओं को निःशुल्क पुस्तकें मिलती थी। जिस समय कलकत्ता में पहली बार बेथुन-फीमेल-स्कूल स्थापित हुआ, उस समय कलकत्ता-निवासी सम्भ्रान्त दलपतिगण एवं अन्यान्य सम्भ्रान्त लोग बहुतेरे किस्म के हंगामा किये थे। लेकिन वीरसिंहो में बालिका विद्यालय के स्थापित होने पर, पड़ोसी सन्तोष के साथ अपनी कन्याओं को विद्यालय भेजा करते थे। इसके चलते, आसपास के दूसरे गाँव के लोग भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं जताये थे।"

●

AA Ng AA

f'k{kk % ikBî iLrd y[ku

महत्व की दृष्टि से, पाठ्यक्रम रचना एवं डेढ़ सौ के आसपास विद्यालय व बालिका विद्यालय स्थापित करने और प्रौढ़ शिक्षा हेतु नाइट–स्कूल की अवधारणा को भारत में पहली बार प्रयोग में लाने के अलावा, शिक्षा के क्षेत्र में विद्यासागर का चौथा महत्वपूर्ण काम है पाठ्यपुस्तकों की रचना। उनके द्वारा रचे गये लगभग सभी पुस्तक, अगर समाज–सुधार से सम्बन्धित बहसों में प्रतिपक्ष को परास्त करने के लिये किये गये शास्त्रों का विवेचन नहीं है तो पाठ्यपुस्तकें ही हैं। यह काम हिन्दी के पाठकों के लिये उतना स्पष्ट नहीं हो पाता है क्योंकि बांग्ला भाषा से सम्बन्धित है। फिर भी जानना जरूरी है कि विद्यासागर ने पाठ्यपुस्तकों की रचना के माध्यम से, शिक्षा में प्रगति के लिये (1) बांग्ला वर्णमाला का सुधार किया, (2) बांग्ला की गद्यरीति को साहित्य के सृजन के अनुकूल बनाया एवं विराम चिन्हों (कॉमा, सेमिकोलोन आदि) का यथोचित प्रयोग करना सिखाया, (3) बांग्ला शिक्षण–पद्धति को बदला एवं बांग्ला–माध्यम से, यानी मातृभाषा–माध्यम से संस्कृत सीखने की शुरूआत की।

जो पाठ्यपुस्तक वह लिखे उनमें भी एक क्रमबद्धता है। विद्यासागर की सौवीं मृत्युवार्षिकी के अवसर पर एक संकलन का प्रकाशन हुआ था, 'प्रसंगः विद्यासागर'। उसका प्राक्कथन प्रख्यात विद्वान एवं अर्थशास्त्री भवतोष दत्त ने लिखा था। विद्यासागर रचित पाठ्यपुस्तकों के बारे में उन्होने लिखा, "किताबें इस कदर सिलसिलेवार लिखी गई है (हालाँकि प्रकाशन सिलसिलेवार नहीं हो पाया) कि इनके आधार पर एक धारावाहिक व्यवस्थित शिक्षण (जिसे आजकल 'प्रोग्राम्ड लर्निंग' कहा जाता है) बचपन से किशोरावस्था तक दी जा सकती है। पहले 'वर्णपरिचय' दोनों भाग, उसके बाद 'कथामाला', उसके बाद 'बोधोदय'। जो बच्चा 'बोधोदय' तक पहुँच गया उसका भाषाज्ञान वांछित स्तर पर आ गया। उसके बाद (पढ़ने के लिये होगा) 'आख्यानमंजरी', 'चरितावली', 'सीतार वनवास',

'शकुन्तला'। साथ ही साथ, संस्कृत सिखाने के लिये 'उपक्रमणिका', 'व्याकरण कौमुदी', 'ऋजुपाठ'। सिर्फ विद्यासागर रचित पुस्तकों के आधार पर बांग्ला एवं संस्कृत के ज्ञान को कॉलेज–स्तर तक पहुँचा देना संभव हो गया।'' (भवतोष दत्त, प्रसंगः विद्यासागर, सम्पादनः बिमान बसु, प्रकाशकः बंगीय साक्षरता प्रसार समिति, 1970) हम प्रकाशन के क्रमवार सिर्फ उन्हीं पुस्तकों का जिक्र करें जो पाठ्यपुस्तक बनने के उद्देश्य से रचे गये या बाद में इस्तेमाल पाठ्यपुस्तक के रूप में होने लगा।

1. बेताल पंचविंशति, 1847, (फोर्ट विलियम विद्यालय में शिक्षणरत लल्लू लाल रचित हिन्दी बेताल पचिसी के आधार पर स्वतंत्र रचना)
2. बांगालार इतिहास, द्वितीय भाग, 1848, (मार्शमैन की किताब 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल' के अन्तिम नौ अध्याय पर आधारित) सिराज–उद–दौला के सिंहासन–आरोहण से विलियम बेंटिंक के शासनकाल तक)
3. जीवनचरित, 1849, ('चेम्बर्स बायोग्रफी' का अनुवाद–गैलिलिओ, न्यूटन, जोन्स आदि महानुभावों की जीवनकथा)
4. बोधोदय (या शिशुशिक्षा, चौथा भाग), 1851, (विभिन्न नैसर्गिक व सामाजिक परिघटनाओं, वस्तुओं एवं धारणाओं की तर्कपूर्ण व्याख्या)
5. संस्कृत व्याकरणेर उपक्रमणिका, 1851
6. ऋजुपाठ (भाग 1 – 3), 1851–52, (पंचतंत्र की कथायें)
7. व्याकरण कौमुदी, प्रथम एवं द्वितीय भाग, 1853
8. व्याकरण कौमुदी, तृतीय भाग, 1854
9. शकुन्तला, 1854, (कालिदास रचित 'अभिज्ञानशकुन्तलम' नाटक की कहानी)
10. वर्णपरिचय, प्रथम भाग, 1855 (बंगला भाषा सीखने की प्राथमिक पुस्तिका जो आज भी अप्रतिद्वन्दी है)
11. वर्णपरिचय, द्वितीय भाग, 1855
12. कथामाला, 1856, (इसप्स फेबल्स के एक हिस्से का अनुवाद)
13. चरितावली, 1856, (प्रख्यात व्यक्तियों की संक्षिप्त जीवनी)
14. पाठमाला, 1859, (कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रवेश परीक्षार्थियों के लिये संकलन)
15. महाभारत (उपक्रमणिका भाग), 1860,

16. सीतार वनवास, 1861
17. व्याकरण कौमुदी, चतुर्थ भाग, 1862
18. आख्यानमंजरी, प्रथम भाग, (कुछेक अंग्रेजी पुस्तकों की कहानियों के आधार पर)
19. आख्यानमंजरी, द्वितीय भाग, 1868
20. आख्यानमंजरी, तृतीय भाग, 1868
21. रामेर राज्याभिषेक, 1869
22. भ्रान्तिविलास, 1869, (शेक्स्पीयर रचित 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' की कहानी
23. वाल्मिकीर रामायण, (प्रकाशन वर्ष अज्ञात), (टीका–टिप्पणी के साथ)
24. कथित है कि राजकृष्ण बंदोपाध्याय रचित 'नीतिबोध' का कुछेक हिस्सा विद्यासागर का लिखा है। फुर्सत न रहने के कारण उन्होंने राजकृष्णबाबू को पुस्तक पूरा करने का भार दे दिया। कथित है कि 'बच्चों के प्रति व्यवहार', 'परिवार के प्रति व्यवहार', 'परिश्रम', 'स्वचिन्ता', 'स्वावलम्बन', 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' एवं 'विनय' शीर्षक प्रस्ताव उन्हीं के द्वारा लिखा गया है)।

●

AA Ikr AA

f'k{kk % f'k{k.k lEcU/kh cnyko

शिक्षण सम्बन्धी बदलावों में सिर्फ दो पहलुओं को हम रेखांकित करना चाहेंगे। पहला, छात्रों की भर्ती में जातिगत प्रतिबंध पर प्रहार – संस्कृत कॉलेज का सचिव बनते ही उन्होने छात्रों की भर्ती में जातिगत प्रतिबन्ध को हटाने की मांग की थी। आज के कुछ इतिहासकार इस घटना को छोटा कर आँकते हैं। उनका कहना होता है कि विद्यासागर ने ऐसा क्या किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैद्य परिवार से छात्र पहले से जा ही रहे थे, उन्होने सिर्फ कायस्थ को शामिल किया।

संस्कृत कॉलेज में छात्रो की भर्ती कम होती जा रही है इस पर चिन्ता व्यक्त करते हुये कुछेक सुधारों के साथ साथ भर्ती सम्बन्धित प्रतिबन्ध को हटाये जाने का प्रस्ताव विद्यासागर ने शिक्षा परिषद को भेजा था। शिक्षा परिषद ने उनसे प्रतिवेदन मांगा। उन्होने 20 मार्च 1851 को यह प्रतिवेदन सौंपा। इस प्रतिवेदन के बारे में विद्यासागर के जीवनीकार सुबल चन्द्र मित्र लिखते हैं, "अन्य बातों के अलावा, उन्होने लिखा, 'जब वैद्यों को, जो शुद्र से बेहतर नहीं हैं, [वैद्य जाति कथित तौर पर प्राचीन चिकित्सकों, रसायनशास्त्रियों के वंशज हैं और उन्हें शवों के चीड़फाड़ से कोई परहेज नहीं, अतः वे शुद्र हुये, यही था विद्यासागर का श्लेष–व॰ले॰], कॉलेज में पढ़ने की अनुमति दी जाती है, तो मुझे कोई कारण नहीं दिखता है कायस्थों को अनुमति नहीं देने का। आगे यह बात भी है कि जब अमृतलाल मित्र को, जो शोभाबाजार के राजा राधाकान्त देव बहादुर के दामाद हैं और हाल तक हिन्दू स्कूल के छात्र थे, संस्कृ त कॉलेज में पढ़ने की अनुमति दी गई है तो कायस्थों को अनुमति नहीं देने का कोई कारण नहीं है।" जीवनीकार कहते हैं कि विद्यासागर ने प्रतिवेदन में यह भी लिखा कि कॉलेज ही क्यों, अन्य शिक्षण संस्थानों के अध्यापक भी उनके इस प्रयास के विरोध में हैं। और उनका विरोध है कि नीची जातियों के लोग संस्कृत पढ़ेंगे तो हिन्दु धर्म अपवित्र हो जायेगा। उन्होने शास्त्रों से ही ऐसी गलत व दूषित सोच के खिलाफ उद्धरण दिये। विद्यासागर ने अध्यापकों से पूछा कि अगर उन्हे लगता है कि शूद्रों को संस्कृत शिक्षा का अधिकार नहीं है तो फिर कैसे राजा राधाकान्त देव,

जो शुद्र हैं, संस्कृत का पाठ ग्रहण किये और अध्यापक लोग उनके द्वारा किये जा रहे शास्त्रों पर बातचीत का विरोध नहीं करते? विद्यासागर ने यह भी पूछा अध्यापकों से कि अगर वे शुद्रों एवं अन्य नीची जातियों के लड़कों को संस्कृत पढ़ाने के विरोधी थे तो कैसे यूरोपीय लोगों को देवभाषा सिखाने में विवेक का कोई कचोट नहीं महसूस किये, जबकि यूरोपीय तो हिन्दु ही नहीं हैं! सिर्फ यही नहीं, देवभाषा सिखाने की मजदूरी के एवज में वे पैसे भी लिये!

इतिहास बताता है कि आगे चल कर उनकी सोच भारी पड़ी। संस्कृत कॉलेज के दरवाजे सभी जातियों के लिये खुल गये। बाद में खोले गये आदर्श बंग विद्यालय तो सभी जातियों एवं सभी धर्मों के लिये ही बने।

दूसरा बदलाव भी बहुत दूरदर्शी था। सख्त अनुशासन–पसन्द वो जरूर थे लेकिन छात्रों पर शारीरिक प्रहार करने के उतने ही सख्त विरोधी थे। अनेकों कहानियाँ हैं जिसमें बच्चों को पीटने वाले मास्टरों के प्रति एवं इस प्रवृत्ति के प्रति उनकी नापसन्दगी दर्शाई गई है। उनका तरीका था दोस्ती, मेलजोल। जब तक कॉलेज चल रहा हो, कॉलेज परिसर में वह सख्त रहते थे। समय पर आना, समय से जाना, सभी क्लासों का समय पर होना..... सारा कुछ उन्होने लागू करवा दिया था। लेकिन कॉलेज शुरू होने के पहले और बाद में? एक कहानी है कि किसी गाँव के विद्यालय का परिदर्शन कर कलकत्ता लौटते हुये देर हो गई। घर जाने का समय नहीं था। घुस गये लड़कों के हॉस्टल में। कुँए पर भींगे कपड़े ओढ़ कर नहा लिया, लड़कों के थालियों में से एक एक मुट्ठी चावल लेकर खाना खा लिया और घन्टी बजने से पहले अपने प्राचार्य वाले चेम्बर में सबसे पहले हाजिर हो गये। इस तरह विद्यासागर ने यह धारा शुरू किया कि बच्चों से मित्रवत घुल मिल कर उन्हे अनुशासित किया जाय या पढ़ाई के प्रति ध्यान दिलवाया जाय पर किसी भी स्थिति में उन पर शारीरिक आघात नहीं किया जाय।

वैसे विद्यालयों में गर्मी की छुट्टियाँ एवं रविवार की छुट्टी की परम्परा चालू करनें में भी उनका योगदान है ऐसा कहा जाता है; यहाँ तक निश्चित है कि संस्कृत कॉलेज का प्राचार्य रहते उन्होंने चन्द्रपक्ष के पहले और आठवें दिन की छुट्टी के बदले रविवार की छुट्टी चालू करवाया था। ●

AA vkB AA

f'k{kk % egkfo|ky; dh LFkkiuk

पाठक अगर इन्टरनेट का इस्तेमाल करने वाले हों तो गुगल सर्च में अंग्रेजी में लिखें 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन'। शुरु में ही दिखेगा विकिपिडिया पृष्ठ, 'विद्यासागर कॉलेज'। ऐसा क्यों? पाठक पृष्ठ को खोलेंगे तो निम्नलिखित बातें लिखी मिलेंगीः

"विद्यासागर कॉलेज, उत्तर कोलकाता में, पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नाम पर, कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक सरकार– प्रायोजित कॉलेज है। यह भारत का पहला निजी कॉलेज था जो भारतीयों के द्वारा चलाया जाता था, जहाँ भारतीय पढ़ाते थे एवं जिसका वित्त–पोषण भारतीयों के द्वारा होता था। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने वर्ष 1872 में इस कॉलेज को स्थापित किया था। पहले यह 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन' के नाम से जाना जाता था।"

विकीपिडिया के उल्लिखित पृष्ठ पर यह भी लिखा मिलेगा कि आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द, आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय, आचार्य यदुनाथ सरकार, राम मनोहर लोहिया, बाबू जगजीवन राम एवं अन्य कई महत्वपूर्ण व्यक्ति इस संस्थान में छात्र बने।

विद्यासागर के जीवनीकार सुबल चन्द्र मित्र 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन' के जन्म की कहानी बताने के क्रम में तत्कालीन मुद्रित एक पर्चे को उद्धृत करते हैं। पर्चे का शीर्षक था, 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टियूशन से सन्बन्धित तथ्यों पर वक्तव्य'। पर्चा कहता हैः

"1. सन 1859 में, कलकत्ता के उत्तरी भाग मे स्थित शंकर घोष लेन में कलकत्ता ट्रेनिंग स्कूल के नाम से एक विद्यालय स्थापित किया गया था। स्थापित करने वाले थे बाबू ठाकुरदास चक्रवर्ती, बाबू माधवचन्द्र धाड़ा, बाबू पतितपावन सेन, बाबू गंगाचरण सेन, बाबू यादवचन्द्र पालित एवं बाबू वैष्णवदास आढ्य [वैष्णवचरण आढ्य]; सभी दिवंगत हो चुके हैं।"

पर्चा आगे यह बताता है कि संस्थापकों ने खुद विद्यालय की स्थापना का सारा खर्च उठाया था लेकिन अन्य कई गण्यमान्य (भारतीय) व्यक्तियों ने कई तरीके से आगे मदद किया। यह भी कि विद्यालय का

उद्देश्य था 'बिना लाभ कमाये मध्यवर्गीय हिन्दू युवाओं के लिये कम खर्च में अंग्रेजी शिक्षा' जो कि मिशनरी विद्यालयों के ईसाई धर्म प्रचार के खतरे से मुक्त हो।

धारा 4 में पर्चा कहता हैः

"4. विद्यालय का प्रबन्धन पहले संस्थापक खुद सम्हालते थे लेकिन स्थापना के कुछ महीनों के उपरान्त उन्होने देखा कि पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जो सरकारी संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य एवं सरकारी बालिका विद्यालयों के निरीक्षक के तौर पर विद्यालय प्रबन्धन में सबसे अधिक अनुभवी थे, अब सरकारी सेवा से इस्तीफा देने के बाद काफी फुरसत में हैं, तो संस्थापकों ने उन्हे एवं बाबु राजकृष्ण बनर्जी को अनुरोध किया कि वे उन्हे मदद करें। उनकी रजामन्दी प्राप्त करने के बाद, संस्थापकों, उपरोक्त दो भद्रमहाशयों एवं कुछ और सदस्यों को लेकर एक प्रबन्ध–समिति बनाई गई। उक्त समिति ने विद्यालय का मार्च 1861 तक प्रबन्ध किया।"

यहीं से इस संस्था के साथ विद्यासागर के रिश्ते की शुरुआत हुई। अगले 11 वर्षों के इतिहास का पूरा बयान जरूरी नहीं। जैसा अक्सर होता है, संस्थापकों में विद्यालय के संचालन के विभिन्न मुद्दों को लेकर विवाद हुये, कुछ छोड़ कर चले गये, कुछ नये लोग जुड़े, फिर कुछ गुजर गये.... सन 1872 आते आते विद्यासागर अकेले इस संस्था के साथ खड़े थे। तब तक विद्यालय का नाम 'कलकत्ता ट्रेनिंग स्कूल' से, कुछ अन्य नामों से गुजरते हुये 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन' हो चुका था। विद्यालय का प्रबन्ध, इसका मालिकाना सब कुछ विद्यासागर के कंधों पर डाल दिया गया, जबकि बैंक में विद्यालय का खाता पैसों के अभाव में बन्द हो चुका था।

लेकिन ईश्वरचन्द्र अपने स्वभाव से मजबूर थे। अगर किसी काम में हाथ डाल दिया तो बस डाल दिया। पीछे हटने का कोई सवाल पैदा ही नहीं होता था उनके सामने। उन्होने अपने पैसे भी लगाये लेकिन आगे उसकी जरूरत नहीं पड़ी। छात्रों की संख्या बढ़ने लगी और विद्यालय स्वावलम्बी हो गया। विद्यासागर अब तक, विद्यालय की बदलती हुई विभिन्न प्रबन्ध समितियों में सचिव के तौर पर काम करते हुये

विद्यालय में कई सुधार ला चुके थे। अब उन्होने इसे महाविद्यालय बनाने को ठान लिया। 25 जनवरी 1872 को उन्होने अपने अलावे द्वारका नाथ मित्र एवं क्रिष्टोदास पाल को लेकर एक प्रबन्ध समिति का गठन किया एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलसचिव के पास सम्बद्धता के लिये आवेदन किया। उन्होंने विद्यालय की ओर से कलकत्ता विश्वविद्यालय को पत्र लिखा कि इस विद्यालय से परिक्षार्थियों को स्नातक (कला) प्रथम की परीक्षा देने की अनुमति दी जाये। उन्हें मालूम था कि विश्वविद्यालय का सिन्डीकेट, जो अंग्रेजों से भरा था, भारतीयों द्वारा चलाये जा रहे संस्था की गुणवत्ता पर कभी भरोसा नहीं करेगा एवं सम्बद्धता नहीं मिलेगी। इसलिये विद्यासागर ने औपचारिक पत्र के अलावा सिन्डीकेट के प्रभावशाली सदस्य ई० सी० बेली को अलग से पत्र लिख कर उन्हे प्रभावित करने का प्रयास किया।

अन्ततः सम्बद्धता मिल गई और उसके बाद के पहले ही वर्ष में (1874) मेट्रोपोलिटन इन्स्टिटयूशन परीक्षाफल के हिसाब से सभी सम्बद्ध महाविद्यालयों में दूसरे नम्बर पर आया। सब अचंभे में थे। भारतीयों द्वारा चलाया जा रहा भारत का पहला महाविद्यालय और पहले ही वर्ष में दूसरे नम्बर पर! जीवनीकार सुबल चन्द्र मित्र जिक्र करते हैं कि प्रेसिडेन्सी कॉलेज के प्राचार्य एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलसचिव मिस्टर सटक्लिफ ने कहा, "पंडित ने तो गजब कर दिया!"

फिर क्या था। महाविद्यालय तो चल निकला। सन 1881 से सन 1892 तक मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन के 498 छात्र स्नातक एवं 33 छात्र स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण हो चुके थे। सन 1885 से स्नातक–सम्मान भी शुरू हो चुका था। सन 1885 से सन 1892 तक 86 छात्र स्नातक–सम्मान उत्तीर्ण हुये। सन 1882 में ही कानून की पढाई के लिये भी कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्धता मिल गई थी। अगले दस वर्षों में 513 छात्र कानून में स्नातक हुये। बल्कि सन 1883, 1885 एवं 1886 में इसी महाविद्यालय के छात्रों ने प्रथम स्थान प्राप्त किया एवं उन्हे छात्रवृत्ति मिली।

●

AA uk AA

f'k{kk % dekVkM+ e: fd;k x;k 'k{kf.kd dk;Z

पाठक शायद जानते होंगे कि झारखंड के जामताड़ा जिले में स्थित कर्माटाँड़ कस्बे में विद्यासागर ने जमीन सहित एक मकान खरीदा था। दिनांक 2 अप्रैल 1974 के हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड अखबार में छपी एक खबर के अनुसार इस मकान का नाम 'डायस बंग्लो' था। खरीदने के बाद (एवं शायद कुछ परिवर्तन के साथ) विद्यासागर ने मकान का नाम रखा था 'नन्दन कानन'। उस वक्त यह स्थान बंगाल प्रेसिडेन्सी के अन्तर्गत बिहार इलाके के संथाल परगना जिले में आता था। विद्यासागर ने यह सम्पत्ति उन्नीसवीं सदी में सत्तर की दशक की शुरुआत में किसी समय खरीदी थी। सन 1874 से उनके यहाँ रहने के तथ्य मिलते हैं। बीच बीच में काम से वह कलकत्ता, बर्धमान या और किसी जगह जाया करते थे। फिर जब ज्यादा बीमार पड़ने लगे तो उन्हे कलकत्ता जाकर रहना पड़ा। मोटे तौर पर जीवन के अंतिम 18 वर्ष वह इसी तरह गुजारे।

कर्माटाँड़ आने के कई कारण थे। कलकत्ते के हिन्दु मध्यवर्गीय लोगों की कूपमन्डुकता, रुढ़िवाद एवं सुधार–प्रयासों के विरोध से विद्यासागर उकता गये थे। अपने परिवार से भी वह परेशान थे। नीतियों पर अड़े रहने की अपनी जिद पर वह कभी समझौता नहीं किये। इसी कारण, बड़े बेटे को उन्होंने विधिवत् इच्छापत्र (विल) बनाकर सभी सम्पत्ति से अलग कर दिया था। खैर, वह एक अलग कहानी है।

यहाँ जिक्र करने लायक एक ही बात है कि कर्माटाँड़ में उन्होने शैक्षणिक कार्य छोड़ा तो नहीं ही, बल्कि उसके नये आयाम खुले। उन्होने यहाँ के संथाल घरों की बेटियों के लिये कन्या विद्यालय शुरू किया। साथ ही, वयस्क संथालों के लिये शाम को प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम शुरू किया।

उनके इन दोनों कार्यों का जिक्र समकालीन लेखन में मौजूद है। लेकिन अधिक जानकारी अनुपलब्ध है, जैसे, कितनी बालिकायें आती थी या कितने प्रौढ़ आते थे, उन्हे किस किस विषय का पाठ दिया जाता

था, दिन के किस समय से किस समय तक विद्यालय चलते थे आदि। लेकिन गौर तलब है कि मिशनरियों से अलग, तत्कालीन बंगाल प्रेसिडेन्सी के आदिवासियों में किसी भारतीय द्वारा शुरू किया गया यह पहला कन्या–शिक्षा कार्यक्रम था। प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम तो सभी पैमाने पर इस देश का पहला था।

उनके इस ऐतिहासिक कार्य को सम्मानित करने के लिये 100 वर्षों बाद 1979 में जब स्वतंत्र भारत के बिहार सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा के तत्कालीन कार्यक्रम को लागू करने को सोचा तो उसका उद्घाटन कर्माटाँड़ स्थित 'नन्दन कानन' में ही किया गया। ज्ञातव्य हो कि उस समय तक, बिहार बंगाली (अविभाजित बिहार की) समिति ने 'नन्दन कानन' को खरीद लिया था। धरोहर को बचाने का यही एकमात्र तरीका था एवं बिहार सरकार ने इस पुनीत कार्य में पूरी तरह सहयोग किया था। बल्कि, बिहार बंगाली समिति द्वारा लगातार किये गये आवेदनों को स्वीकारते हुये केन्द्रीय सरकार ने रेलवे स्टेशन का नाम भी 'कर्माटाँड़' से बदल कर 'विद्यासागर' कर दिया था।

●

AA nl AA

f'k{kk % dN vU; 'k{kf.kd dk;Z

जमीन की बन्दोबस्ती के जो कानून इस्ट इन्डिया कम्पनी ने बनाये थे उसके तहत कम्पनी को बड़ा आय तो होता ही था, कर की अदायगी न होने के कारण जो नीलामियाँ होती थी उसमें भी कम्पनी के अधिकारियों को ही जमीन, सम्पत्ति हासिल होती थी। उधर, बहुत सारे नाबालिग जमींदार–पुत्रों के हाथों में जमींदारी आ रही थी या आने की संभावना बन रही थी। उनकी नासमझ ऐय्याशियों में जमींदारी यूं ही बिक जाने से कम्पनी को खास फायदा नहीं था। इसीलिये, जैसा कि ब्रजेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय जिक्र करते हैं कि सन 1854 के 11 नवम्बर को कानून बना जिसके तहत 'कोर्ट ऑफ वार्ड्स' की देखरेख में नाबालिग जमींदार–पुत्रों की शिक्षा की व्यवस्था' होनी थी। सन 1856 के मार्च महीने में वार्ड्स इन्स्टीट्यूशन स्थापित किया गया। बनने के कुछ दिनों बाद कुछ गण्यमान्य व्यक्ति इसके परिदर्शक या 'विजिटर' नियुक्त किये गये। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी एक 'विजिटर' थे। उन्होने कई बार वार्ड्स इन्स्टिट्यूशन का परिदर्शन किया एवं अन्य 'विजिटरों' से मतभेद के कारण एक साथ प्रतिवेदन न देकर अपना स्वतंत्र प्रतिवेदन दिया। सरकार ने और विशद में जाकर प्रतिवेदन देने को कहा तो फिर से अपने सुझावों को दुहराया। सुझाव मुख्यतः चार बातों को लेकर था। एक, कि वार्ड्स का घर न होकर संस्था को बोर्डिंग–स्कूल जैसा बनना चाहिये, दूसरा कि जमीन्दार–पुत्रों के लिये पाठ्यक्रम की सही व्यवस्था उनकी आवश्यकता के अनुरूप बनाई जाय, तीसरा कि पढ़ाई के लिये आवश्यक संख्या में योग्य शिक्षक नियुक्त किये जायें, और चौथा कि किसी भी स्थिति में बच्चों को मारा–पीटा नहीं जाय।

जो भी हो, न तो सरकार का यह प्रयोग बहुत सफल रहा और न ही विद्यासागर उस संस्था के परिदर्शक बहुत दिनों तक बने रहे। जीवनीकार ब्रजेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय बताते हैं कि शायद 1865 के 28 मार्च को विद्यासागर आखरी बार वार्ड्स इन्सटीट्यूशन परिदर्शन के लिये गये थे।

सरकार ने उच्चशिक्षा से सम्बन्धित कमिटी में भी विद्यासागर को रहने के लिये अनुरोध किया था। लेकिन विद्यासागर ने साफ कहा कि चुँकि वह ग्रंथकार हैं, पाठ्यपुस्तकों के लेखक हैं इसलिये उनका कमिटी में रहना पाठ्यविषयों एवं पुस्तकों के चयन को प्रभावित करने के लिये प्रतीत होगा। अतः वे कमिटी में नहीं रहेंगे।

'विद्यासागरेर विज्ञानमानस' पुस्तक के रचयिता तड़ित कुमार बंदोपाध्याय अपने पुस्तक में एक जगह विश्वरंजन पुरकाइत द्वारा रचित 'इन्डियन रेनेशाँ ऐन्ड एडुकेशन' से उद्धृत करते हैः

" He was patriot and a true nationalist- He was an ardent advocate of non–official secular and popular institution for higher education with a purely Indian teaching staff. ……

" Vidyasagar was fully conversant and acquainted with the then psychological writings and researches in educational issues. He was dead against corporal punishment of students and making adverse and uncharitable remarks in the class which would wound the sentiments and personality development of the students. He introduced summer vacation and Sundays as holidays-

"Many of the present-day educational issues can be traced back to the days of Vidyasagar".

इस अनुभाग को खत्म करते करते यह बताते चलें कि, सन 1864 में विद्यासागर जर्मनी स्थित प्राच्यविद्या केन्द्र Deutscher Akademischer Austanschdienst के सदस्य चुने गये थे। उसी वर्ष वह Royal Asiatic Society के भी सदस्य चुने गये। सन 1880 में अंग्रेज सरकार ने उन्हे सी०आई०ई० (कॉम्पैनियन ऑफ इन्डियन एम्पायर) की उपाधि से भूषित किया था (लोगों के पूछने पर कि यह सी०आई०ई० होता क्या है, वह कहते थे 'छाई' यानी राख)। इस सी.आई.ई. को लेकर एक कहानी जीवनीकार इन्द्र मित्र बताते हैं। इस पदक को लेने विद्यासागर वाइसरॉय के पास नहीं गये क्योंकि औपचारिक पोषाक पहनने पड़ते। फिर भी प्यादे ने खुद पहुंचकर पदक दिया और बख्शीस मांगा तो उन्होंने पदक ही वापस देकर कहा कि बेचकर ले लेना। सन 1883 में विद्यासागर पंजाब विश्वविद्यालय के 'फेलो' मनोनीत हुये थे।

●

AA X;kjg AA

ukjh l'kfädj.k % fo/kokfookg

नारी सशक्तिकरण की दिशा में मुख्यतः चार प्रसंगों को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, समाज–सुधार के अपने कार्यभारों के दायरे में लेते हुये दिखते है– बालविवाह, नारीशिक्षा, विधवाविवाह, बहुविवाह।

इस भाषा में बात को कहने का कारण है कि नवजागरण के पुरोधा–पुरुष कोई ऐसे व्यक्ति तो थे नहीं कि बस यूँ ही काम आते गया और करते गये। अपनी पढ़ाई खत्म कर रोजगार के क्षेत्र में अवतरित होते होते वह छात्रावस्था के अपने उगते विचारों को सुव्यवस्थित करने लग गये होंगे। अपने माता–पिता और परिवार के लिये अन्न की व्यवस्था करने के साथ साथ उन्होने जरूर सोचा होगा कि अब जीवन में करना क्या है। शैशव से अपने आसपास उन्होने नारियों की नारकीय जीवनस्थिति देखी थी, उन पर निर्मम अनाचार–अत्याचार होते हुये देखे थे। बड़ी बात यह है कि महिलाओं के आगे बढ़ने के लिये रास्ता बनाना उनके लिये सिर्फ नारीमुक्ति का प्रश्न नहीं था (जैसा कि आज भी कुछ लोग सोचते हैं) वल्कि सामाजिक मुक्ति का प्रश्न था– वह स्पष्ट देखते थे कि गुलामी से नारी मुक्त होगी तो पुरुष भी मुक्त होगा गुलाम–मालिक की मानसिकता से और समाज लैंगिक–गुलामी की दुर्व्यवस्था' के दौर से आगे बढ़ेगा।

समाज–परिवर्तन को परिप्रेक्ष्य में रखने वाली यह सोच सबसे अधिक प्रतिफलित हुई है 'बाल्यबिबाहेर दोष' (बाल्यविवाह का दोष) शीर्षक निबन्ध में जो सन 1850 में 'सर्वशुभंकरी' नाम की मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। पर खेद की बात है कि जीवन के पार्थिव परिसीमाओं के कारण आगे चलकर विधवाविवाह के मुद्दे पर जिस तरह वह तन–मन–धन न्योछावर करते हुये भिड़ गये, या उसके तुरन्त बाद बहुविवाह के सवाल पर भी उतनी ही आत्यंतिक तीव्रता के साथ जुट गये, बालविवाह के सवाल पर, उपरोक्त दोनों मुद्दों पर जुझना शुरू करने से काफी पहले विचारने के बावजूद वह उस तरह आगे नहीं बढ़ पाये।

कुछ बातों पर गौर किया जा सकता है। सतीदाह के विरुद्ध राममोहन राय को एक तरफ हिन्दु शास्त्रों से अपने पक्ष का समर्थन जुटाना पड़ा था। दूसरी ओर, अंग्रेज सरकार की आम नीति, हिन्दू

रीतिरिवाजों में दखल न देने की होने के बावजूद उसने दखल दिया क्यों कि सतीदाह इंग्लैन्ड के तत्कालीन कानून के तहत हत्या, गैर इरादतन हत्या या आत्महत्या के उत्प्रेरण के रूप में प्रत्यक्षतः अपराध बनता था। उसी तरह, विधवा विवाह के विरुद्ध ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को भी हिन्दू शास्त्रों से अपने पक्ष का समर्थन तो जुटाना ही पड़ा था, साथ ही उन्होने अच्छा जनमत भी जुटाया था। दूसरी ओर, हिन्दू विधवाविवाह अंग्रेजों के कानूनों में से सिर्फ एक कानून में सवाल पैदा करता था, सम्पत्ति के उत्तराधिकार का सवाल, जिसे सन 1856 के विधवाविवाह कानून में शुरू में ही स्पष्ट कर दिया गया। बहुविवाह के सवाल पर विद्यासागर द्वारा हिन्दू शास्त्र–विवेचन किये जाने एवं जनसमर्थन जुटाये जाने के बावजूद सरकार के पीछे हटने का मुख्य कारण था 1857 की बगावत एवं अंग्रेजी राज के खिलाफ बंगाल से पेशावर तक जनता के क्षोभ का विस्फोट। जबकि बालविवाह पर रोक उम्र की गुत्थी में उलझा सवाल था। हिन्दू शास्त्र के विद्वान कहते थे कि कन्या के मासिक की पहली शुरुआत के 16 दिनों के अन्दर सम्भोग विधित है। अंग्रेजों के कानून में स्वीकृति की उम्र का 12 साल होना भी लगभग उसी सोच को प्रतिफलित करता था। विवाहयोग्यता की उम्र तब क्या होगी। विद्यासागर भी अपने निबंध में आठ साल, नौ साल, दस साल की उम्र में कन्याओं का विवाह कराने वालों की आलोचना तो करते हैं, लेकिन, उसके उपर? इग्यारह साल, बारह साल या तेरह, चौदह साल? पूरी दुनिया में स्वीकृति की उम्र और विवाहयोग्यता की उम्र पर सोच धीरे धीरे आज की स्थिति में पहुंची है, उन्नीसवीं सदी के मध्य में विद्यासागर भी तत्कालीन सोच में बंधे थे। लेकिन, फिर भी, बालविवाह की आलोचना के क्रम में वास्तविक प्रेम और दाम्पत्य का जो खाका वह खींचते हैं वह आज भी उतना ही आधुनिक है। वह खाका हम बाद में, बालविवाह वाले भाग में जानेंगे।

fo/kokfookg ds fy;s la?k"kZ dk egRo

आज इतने वर्षों के बाद जब हम विधवाविवाह के लिये ईश्वरचन्द्र के संघर्ष की बात करते हैं तो कुछ दूसरे बहसों से गुजरना पड़ता है। उनके काम का पुनर्मुल्यांकन करने वाले कुछ आधुनिक विद्वान कहते हैं कि विद्यासागर का यह काम कोई ज्यादा महत्व नहीं रखता है क्योंकि विधवाओं के विवाह की समस्या सिर्फ उँची जातियों वह भी खास कर ब्राह्मणों की समस्या थी, इसीलिये भारतीय समाज के सुधार का जो ब्राह्मणवादी विमर्श है उसी के दायरे में था उनका काम।

उन विद्वानों का पूरा सम्मान करते हुये हम सिर्फ यह कहना चाहेंगे कि पूरे समाज पर अगर सांस्कृतिक वर्चस्व ब्राह्मणवाद का है तो ब्राह्मण या उच्चजातीय समुदाय की किसी कुरीति का प्रभाव पुरे समाज पर नहीं था यह वे कैसे मान लेते हैं? और अगर था तो चोट का असर भी पूरे समाज पर कुछ न कुछ तो जरूर हुआ होगा!

इसी बात को दूसरे ढंग से तत्कालीन एक लेखक कहते हैं। गुरुप्रसाद सेन एक नामी वकील थे एवं सन 1874 में स्थापित बिहार के सबसे पुराने अखबार 'बिहार हेरल्ड' के संस्थापक सम्पादक। सन 1893 में प्रकाशित उनकी एक किताब, 'स्टडी ऑफ हिन्दुइज्म' में एक जगह पर वह कहते हैंः

"विषय पर इस तरह बहस की गई है जैसे बाध्यतामूलक वैधव्य अपवाद नहीं बल्कि नियम हो। बेशक सिर्फ बंगाल [प्रेसिडेन्सी नहीं अविभाजित बंगप्रदेश – व॰ले॰] के लिये यह नियम है क्योंकि यहाँ हिन्दु जनसंख्या है 2 करोड़ 30 लाख, लेकिन बंगाल के बाहर स्थिति बिल्कुल अलग थी। उदाहरणस्वरूप बिहार को लीजिये। यहाँ हिन्दु जनसंख्या थी 1 करोड़ 80 लाख, जिसमें से 30 लाख या छट्ठा भाग ब्राह्मण, राजपूत, खत्री, बाभन एवं कायस्थ जातियाँ है एवं बाध्यतामूलक वैधव्य सिर्फ इन जातियों में लागू है। इस तरह, विधवाविवाह हिन्दू जनसंख्या के 5/6 भाग में प्रचलित है, और, चुँकि मुसलमान जनसंख्या में विधवाविवाह की अनुमति है, अतः प्रदेश के 6/7 भाग जनसंख्या में विधवाविवाह प्रचलित है" [An introduction to the study of Hinduism, Guru Prasad Sen, Calcutta, Thacker, Spink and Co. Publishers to the University, 1893, Pages : 60-63]

आगे यह बताते हुये कि विधवाविवाह की पुरानी प्रचलित 'संघई' प्रथा के तहत किसी भी विधवा का विवाह हो सकता था लेकिन अमूमन कम उम्र की, बड़े–हो–चुके बच्चे अगर न हो तो, विधवाओं का ही विवाह होता था खासकर भूतपूर्व पति के छोटे भाई के साथ.... और आगे 'संघई' विवाह का तौरतरीका बताते हुये.....

"पंडित विद्यासागर का सुधार बंगाल की हिन्दू जनता के, और बचे भारत की जनसंख्या के 1/7 भाग के हित में जरूरी था। बाकियों के लिये सुधार की आवश्यकता नहीं थी, सिर्फ उनकी पुरानी अच्छी प्रथा

को बचाये रखने की जरूरत थी। हालाँकि, pfd tkfr;k mu tkfr;k d çHkko ,o mnkgj.kk l f?kjh g tk] tkfr;k d vuØe e Lohdk; rkj ij mul Åph g] bldh vk'kdk g fd tkfr;k ;k mudh ipk;r fdlh cj yEg e ckã.koknh Nykok vk< y vkj viu Hkhrj çpfyr ,d çFkk dk cUn dj n ß (पूर्वोक्त)

ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक वर्चस्व के खतरों को बताते हुये लेखक आगे यह भी कहते हैं कि अगर इस प्रभाव का खतरा न होता तो "मुश्किल होता समझना कि क्यों मुसलमान भी अपने समुदाय में आजकल विधवाविवाह की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करने लगे हैं।

कुछ दिनों पहले की एक खबर पर नजर दौड़ायें। टेलीग्राफ अखबार में दिनांक 25.8.2003 को प्रकाशित एक स्टोरी है, गौतम सरकार की लिखी हुई। खबर में जिक्र है कि दो साल पहले एक आदिवासी लड़के को इसलिये मार दिया गया क्योंकि वह एक विधवा से शादी करना चाहता था।

"Vidyasagar had waged a battle to abolish child marriage and advocated widow remarriage among tribals in the village. "However, two years ago a tribal boy was killed in Karmatar because he wished to marry a widow. The incident was shocking as 130 years ago, 24 child widows were remarried by Vidyasagar here." [https://www-telegraphindia-com/states/jharkhand/vidyasagar-legacy-lost-in-sands-of-time/cid/806902]

हालाँकि, चुँकि विधवा को नहीं, लड़के को मारा गया, तो हो सकता है कि कहानी का दूसरा पहलू भी हो। लेकिन, रोज का अखबार पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि भले विधवाओं पर अब औरत के रूप में पहले जैसी बन्दिशें न हों और इसीलिये खुद दूसरी शादी कर लेने की घटनायें पहले की तुलना में अधिक हों लेकिन परिवार की ओर से घर की विधवा बेटी या बहू के दूसरे विवाह का आयोजन एक उल्लेखनीय घटना होती है।

यहाँ प्रसंगवश इस बात की भी चर्चा होनी जरुरी है कि 19वीं सदी के चौथे–पाँचवें दशक में तथाकथित उच्च कूल के हिन्दु परिवारों में बालिका, किशोरी एवं युवा विधवाओं की समस्या, समस्या क्यों बनी। 4 दिसम्बर 1829 को अंग्रेज सरकार ने सतीदाह निरोधक कानून पारित

किया था। उसके पीछे की कहानी एवं भारत के महान समाज सुधारक राममोहन राय की भूमिका का वर्णन यहाँ जरूरी नहीं है। लेकिन सतीदाह प्रथा के बन्द होने से इस नारकीय स्थिति के शुरू होने के कारण तो बन्द नहीं हो जाते। बल्कि वे सभी कारण – विवाह की स्त्रीविरोधी प्रथा, पारिवारिक व्याभिचार, सम्पत्ति हड़पने की साजिशें, विधर्मी लुटेरों का हमला एवं राज, जातिगत बन्दिशें... – बढ़ ही रहे थे। क्योंकि, स्थायी बन्दोबस्त के माध्यम से जो जमीन्दारी प्रथा बंगाल (और बिहार) में लादी गई थी वह भले ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था का कोई पूंजीवादीकरण न किया हो, जमीन को माल जरूर बना दिया था एवं सम्पन्न, आधा–सम्पन्न श्रेणियों में पूंजीवादी लालच और अपराधीकरण को बढ़ा दिया था। ऐसी स्थिति में विधवाओं की संख्या बढ़ गई थी और उनका जीना और दूभर हो गया था। खुद राममोहन राय ने भी अपने लेखनों में बालविधवाओं की दुर्दशा का जिक्र किया था।

सन 1926 में पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा रचित 'विधवाविवाह' सम्बन्धित पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। अनुवादक थे जयदेव शर्मा विद्यालंकार। अपनी भूमिका में वह हिन्दु शास्त्रज्ञों के कट्टरपंथी वर्चस्व की चर्चा करते हुये आम सुधारकों की बात करते हैं जो शास्त्रज्ञो के सामने खड़े होते ही या तो भयभीत होकर झुक जाते हैं या शास्त्र–वास्त्र की परवाह न करते हुये आगे बढ़ जाते हैं। फिर वह कहते हैं, "ऐसे वीर बहुत कम होते हैं जो सब क्षेत्र में विजय कर के अपने सुधारों को जनता में प्रबल रूप से चला दें। ऐसे दुर्दव्य वीरों में हमें स्त्री संसार के सुधार क्षेत्र में दो ही वीर नेताओं के नाम दीखते हैं, एक तो पूज्यपाद श्री 108 महर्षि दयानन्द सरस्वती दुसरे बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।" ['विधवाविवाह', ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, अनुवाद – जयदेव शर्मा विद्यालंकार, कलकत्ता, प्रकाशकः गोविन्दराम हासानन्द, वैदिक पुस्तकालय, 370 अपर चितपुर रोड, कलकत्ता, भूमिका – दिनांकः 6.5.1926], उनकी प्रशस्ति की अपनी सीमायें थी। खैर, चुँकि विद्यासागर के कामों पर लिखे जा रहे इस पुस्तक में यह भाग शुरू से ही सिर्फ तथ्यात्मक होने के बजाय थोड़ा तर्कात्मक भी हो गया है – यही स्वाभाविक भी था क्योंकि मूल प्रसंग हिन्दी जगत में काफी चर्चित है – उसी तरीके से आगे बढ़ें।

यह बात गौरतलब है कि विधवाविवाह होना चाहिये यह बात कहने वाले, सबसे पहले, विद्यासागर नहीं थे। उनके पहले कई व्यक्तियों ने विधवाविवाह के समर्थन में लिखा भी था एवं कईयों ने अपने ही घरों में विधवा का विवाह कराने का प्रयास भी किया था। विद्यासागर के जीवनीकार इन्द्र मित्र सन 1852 के 23 मार्च के 'बंगाल हरकरा' अखबार में छपी एक खबर को उदधृत करते हैं जिसमें लिखा था कि 'एक उदारपंथी देसी आदमी (नेटिव) ने एक विधवा से शादी की है। दोनों पक्ष अभी मुफस्सिल में हैं जहाँ यह शादी, लोग कहते हैं कि, रची गई है'।

उसी 'बंगाल हरकरा' अखबार में 11 मार्च 1845 को एक पत्र प्रकाशित हुआ था। यह पत्र बांग्ला भाषा के पहले शब्दकोष–प्रणेता रामचन्द्र विद्याबागीश के निधन पर प्रकाशित हुआ था। पत्र में लिखा था कि 'बंगाल ब्रिटिश इन्डिया सोसायटी' के आवेदन पर, हिन्दु विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में रामचन्द्र विद्याबागीश ने हाल में जो उदार व्यवस्था दिये थे, उसके लागू होने पर वह हिन्दु सुधारकों में शीर्षस्थ गिने जाने चाहिये।

उस समय बंगाल में विभिन्न सभासमितियों का बनना शुरू हो चुका था। इन्द्र मित्र जिक्र करते हैं कि सन 1854 के 15 दिसम्बर को काशीपुर में किशोरीचांद मित्र के घर पर 'समाजोन्नतिविधायिनी सुहृद समिति' स्थापित हुई। अध्यक्ष बने देवेन्द्रनाथ ठाकुर (कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता)। कार्यकारिणी समिति में थीं उस समय के कलकत्ता के बौद्धिक व हिन्दु समाज सुधार जगत की कई महत्वपूर्ण हस्तियाँ। सभा में प्रस्ताव लाया गया कि नारीशिक्षा के प्रवर्तन के लिये, हिन्दु विधवाओं के पुनर्विवाह के लिये, बालविवाह की परम्परा त्यागने के लिये एवं बहुविवाह का प्रचलन बन्द करने के लिये समिति की ताकत विशेष तौर पर लगाई जाय। एक दूसरे प्रस्ताव में कहा गया कि हिन्दु विधवा के पुनर्विवाह लागु करने में कानूनी अक्षमता को दूर करने के लिये सरकार के पास आवेदन किया जाय।

यानि विद्यासागर ने सवाल को पहली बार नहीं उठाया था। न तो वह इस आशय से पहली बार शास्त्रों का विवेचन करने वाले थे, न वह पहली बार सरकार से आवेदन करने वाले थे और न ही वह पहली बार अपने हाथों से किसी विधवा का विवाह देने वाले थे। लेकिन फर्क

ला दिया उनका चरित्र। जिस काम को करते थे बिल्कुल पिल पड़ते थे। यही बात शिक्षा और नारीशिक्षा के प्रसंग में भी लागू होती है। वह पहले व्यक्ति नहीं थे शिक्षा और नारीशिक्षा का प्रयास करने वाले। पर वह विद्यासागर थे जो, जिस रास्ते पर चलते थे उसका नक्शा ही पलट देते थे। विधवाविवाह के सवाल पर वह भावुक थे। उनके व्यक्तिगत जीवन की वेदनायें जुड़ी थी इससे। फिर भी भावुकता में नहीं बह कर एक सचेत सामाजिक कार्यकर्ता की तरह पहले एक असाधारण वादविवादमूलक पुस्तिका लिख कर जनमत को जागृत किया। जगह जगह बैठकें कर, शास्त्र का दंभ भरने वाले विद्वानों, धर्म के रुढ़िवादियों को परास्त किया, अंग्रेज सरकार के पास अपनी बात पहुँचाई तथा साथ में अपने समर्थन में प्रबल जनमत जुटाये। अन्ततः सरकार को मजबूर किया कि इसके पक्ष में कानून बने।

'विधवाविवाह प्रचलित होना उचित है या नही' शीर्षक अपने पहले पुस्तक में विद्यासागर खुद जिक्र करते हैं कि कई लोग अपने घरों के विधवाओं का विवाह कराने को इच्छुक हैं या समर्थन करते हैं। कईयों ने शास्त्रार्थविचार भी किया लेकिन खुद को सही साबित करने के नशे में वे आपस में ही उलझकर रह गये। बात आगे नहीं बढ़ा पाये।

लेकिन, चुँकि, "युक्ति मात्र के सहारे आप इसे कर्तव्य कर्म साबित करें तो लोग इसे कर्तव्य कर्म के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे, अगर शास्त्र में इसे कर्तव्य कर्म कहा गया होगा, तभी वे इसे कर्तव्य कर्म मानेंगे और तदनुसार चलेंगे" इसीलिये वह, यानी विद्यासागर शास्त्रार्थ करने को मैदान में उतरे हैं।

अब आइये देखें कि विधवाविवाह के पक्ष और विपक्ष की क्या स्थिति थी। यह तो सब जानते हैं कि इस दिशा में काम की शुरुआत उन्होने उपरोक्त पुस्तिका से की थी, जिसके हिन्दी अनुवाद की चर्चा अभी की गई। यह पुस्तिका सन 1855 के जनवरी महीने में प्रकाशित हुई थी। बंगला साहित्य के एक विद्वान ने विद्यासागर को खण्डनात्मक लेखन (polemic) का राजा कहा है। सन 1856 के जुलाई महीने में 'हिन्दु पैट्रियट' ने लिखा, "....The first pamphlet by Pundit Issur Chunder Bidyasagur, which initiated the agitation, was written in a clear business like argumentative style- It was graced by none of the ornaments of rhetoric, and owed its unprecedented

circulation to the intense interest of the subject and the very becoming manner in which it was introduced. It was just such a statement as a case should be opened with. We have called the circulation of Pundit Issur Chunder Bidyasagur's pamphlet unprecedented, for we do not think that the history of Bengali literature presents another instance of so universal, yet so rapid, a dissemination of a writing."

इसके बाद उन्होने इस विषय पर फिर से एक पुस्तिका लिखा। साथ ही, अपने आलोचकों एवं निन्दकों को दो तरीके से जबाब दिये। एक तो शास्त्रार्थ विवेचन के साथ, तर्क की शैली में, दूसरा, खास कर कुतर्की और निन्दकों के लिये व्यंग व परिहास की शैली में। सिर्फ शास्त्रसम्मत प्रमाणित होने पर तो बात नहीं बनेगी, कानूनसम्मत भी करवा लेना होगा! इसीलिये शास्त्रज्ञों को अंतिम तौर पर परास्त करने के बाद विद्यासागर ने अंग्रेज सरकार के नाम एक आवेदन लिखा सन 1855 के 4 अक्तूबर को। यह व्यक्तिगत पत्र नहीं था। कुल 986 लोगों के हस्ताक्षर के साथ विद्यासागर ने इस सामुहिक आवेदन को अग्रसारित किया था।

इन्द्र मित्र द्वारा रचित 'करुणासागर विद्यासागर' में जीवनीकार ने भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में संरक्षित Legislative Paper of Act XV 1856 Vol-I & II से पक्ष और विपक्ष में लिखे गये आवेदनपत्रों की जानकारी एवं प्रतियाँ संगृहित किये हैं। इसलिये इस लड़ाई की आगे की कहानी उन्ही के ग्रंथ से ली गई है। 986 लोगों द्वारा हस्ताक्षरित उपरोक्त आवेदन के बाद 6 दिसम्बर 1855 को एक आवेदन भेजा गया विधवाविवाह के पक्ष में जिसमें महाराज श्रीशचन्द्र रायबहादुर के अलावे कृष्णनगर एवं आसपास के इलाकों के कई निवासियों का हस्ताक्षर है। अगले ही दिन दिनांक 7 दिसम्बर की तारीख में बारासात, हालिशहर, बेलघरिया, महेश्वरपुर आदि इलाकों से कई लोगों के हस्ताक्षर सहित एक आवेदन पत्र दर्ज है जो 'महामहिम श्रीलश्रीयुक्त भारतवर्षीय व्वस्थापक समाजाध्यक्ष महाशय' को सम्बोधित है।

इस आवेदन में लिखी गई बातों को जीवनीकार ने उद्धृत किया है और सही किया है, क्योंकि सभी आवेदनों के पीछे की भावनाओं को

सबसे अधिक स्पष्टता के साथ एवं नंगे सामाजिक यथार्थ के बीच इस पत्र में दर्ज किया गया :

"चुँकि नारीजाति अपने स्वाभाविक गुणों के कारण पुरुषों से तुलनीय है। स्त्री का निधन होने पर पुरुष अनायास विवाह कर सकता है। हमारे देश में विधवाओं के लिये भी ऐसी प्रथा का प्रचलित नहीं रहना स्वभाव के नितान्त विरुद्ध है। सिर्फ इतना ही नहीं कि ईश्वर के नियम को तोड़ने के कारण पतिरहित कामिनियों को असह्य यंत्रणा भोग करना पड़ता है एवं किसी किसी को घोर दुष्कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है, पुरुषों को भी उनके दुख के भागीदार बनने के कारण या कभी कभी दोनों जातियों के सम्मान की रक्षा के लिये असत्य का सहारा लेना पड़ता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा रचित पुस्तकद्वय को पढ़, विधवाविवाह शास्त्रविरोधी नहीं है यह जान कर इस निर्दय एवं विधिविरुद्ध अनिष्टकर नियम का उल्लंघन करने को कई लोग तैयार हैं, लेकिन कहीं न्यायालय में ऐसा विवाह, विवाह के रूप में स्वीकृत न हो एवं ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान विधिवत सन्तान के रूप में न गिना जाय इस आशंका से वे प्रवृत्त नहीं हो पाते हैं। समाज से यह भय दूर होने पर अनायास एवं बहुत जल्द ही विधवाविवाह प्रचलित होने की सम्भावना है।"

इसके बाद कई आवेदन विधवाविवाह के पक्ष में आने शुरू हो गये।

सन 1855 के 7 दिसम्बर को ही पूना से भी विधवाविवाह के पक्ष में आया हुआ एक आवेदनपत्र दर्ज है। कलकत्ता मिशनरी कॉन्फ्रेन्स के सदस्यगण, 1855 के 22 दिसम्बर को विधवाविवाह के समर्थन मे एक आवेदन जमा दिये। सन 1856 के जनवरी में आया हुआ पक्ष का एक आवेदन दर्ज है जिसमें 685 लोगों का हस्ताक्षर है। सभी कलकत्ता एवं आसपास के रहनेवाले हैं। कुछ नामीगिरामी लोग, राजकृष्ण मुखोपाध्याय, शिवचन्द्र देव, दिगम्बर मित्र, रामनारायण तर्करत्न, प्यारीचरण सरकार, भुदेव मुखर्जी एवं तारिणीचरण सरकार उनमें शामिल हैं।

अगले साल, यानी 1856 का पहला आवेदन दर्ज है भिंचुर(?) के मराठाप्रधान एवं अन्य कई जनों का, 12 जनवरी को किये गये हस्ताक्षर के साथ विधवाविवाह के पक्ष में आवेदन भेजा गया है नासिक से, 18 जनवरी को। 21 फरवरी की तारीख में, मुर्शिदाबाद से आये आवेदन पर अनेकों हस्ताक्षर है। पर मुख्य हस्ताक्षरकर्ता हैं पन्डित मदनमोहन तर्कालंकार। 29 मार्च को मेदिनीपुर के निवासियों द्वारा हस्ताक्षरित एक

आवेदन राजनारायण बसु द्वारा भेजा गया है। बाँकुड़ा एवं वर्धमान से विधवाविवाह के पक्ष में आवेदन 15 अप्रैल को भेजा गया है। अहमदनगर [अभी महाराष्ट्र में है], से 34 हिन्दुओं ने आवेदन भेजा है 25 अप्रैल को। 7 मई का एक आवेदन है जिस पर 312 लोगों का हस्ताक्षर है। इस आवेदनपत्र की खास बात यह है कि इसमें एक अलग नजरिया रखा गया है। कहा गया है कि विधवाविवाह देशाचार में प्रचलित नहीं है लेकिन शास्त्रसिद्ध है यह विद्यासागर ने प्रमाणित किया है। शास्त्र देशाचार से बड़ा होता है इसलिये विधवाविवाह लागू किया जाय। हस्ताक्षरकर्ताओं में प्रमुखतम नाम है दीनबन्धु मित्र [प्रख्यात नाट्यकार, 'नीलदर्पण' के रचयिता]। 19 मई को मैमनसिंह से भगवानचन्द्र बसु ने पक्ष में आवेदन भेजा है। 20 जून को बारासात एवं आसपास के इलाकों के 111 हिन्दु निवासियों ने विधवाविवाह लागू किये जाने के लिये आवेदन भेजा है। 24 जुलाई को ढाका से 113 लोगों (हिन्दू) ने आवेदन भेजा है।

कलकत्ता के कुछ नामी बुद्धिजीवियों, रसिककृष्ण मल्लिक, किशोरीचांद मित्र, राधानाथ शिकदार, प्यारीचांद मित्र आदि ने आवेदन में एक अलग सुझाव दिया, "मामले की जरूरत बेहतर ढंग से पूरी होगी अगर विशेष वैधानिक कार्रवाई के माध्यम से सिर्फ हिन्दु विधवाओं के विवाह को विधिसम्मत बनाने के बजाय सामान्य विवाह कानून बनाया जाय।"

अब, जीवनीकार के ग्रंथ में जिक्र किये गये विधवाविवाह–विरोधी आवेदनों की भी चर्चा हो जाये।

विधवाविवाह कानून को पारित न होने देने के लिये सबसे अधिक हस्ताक्षरों वाला आवेदन जमा पड़ा था 1856 के 17 मार्च को। जमा कराने वाले थे राधाकान्त देव और इस आवेदन में 33000 हस्ताक्षर थे। विद्यासागर के जीवनीकार इन्द्र मित्र राष्ट्रीय अभिलेखागार में जाकर इस आवेदन को देखे होंगे। वह लिखते हैं, "सारे हस्ताक्षर दिख नहीं रहे हैं पर बहुत बड़ी संख्या में हस्ताक्षर थे, निःसन्देह। कितने थे? मूल आवेदन के पीछे पेन्सिल से लिखा है 36764, फिर उसके पहले वाले पृष्ठ पर आवेदनपत्र के हस्ताक्षरों की संख्या के बारे में पेन्सिल से लिखा है – about 33000 signatures। सरकार द्वारा 5 जुलाई 1856 को प्राप्त,

राधाकान्त देव का एक दूसरा आवेदन भी है जिसमें 617 लोगों का हस्ताक्षर है। उस आवेदन पर पहले वाले आवेदन के बारे में लिखा है – the one signed by Royal Radhakanta Dev and 33 thousand Hindu inhabitants (Legislative Paper of Act XV 1856, Vol- I - II, P-1220)

विरोध में पहला जिक्र है त्रिपुरा से 320 लोगों के हस्ताक्षर सहित आये आवेदन का। हालाँकि इसके साल का जो जिक्र बंगला के हिसाब से है वह सही नही बैठता है। साल अगर 1856 मान लें तो तारीख आती है 13–14 मार्च। बम्बई के सतारा जिले से 141 हिन्दुओं ने 25 मार्च 1856 को विरोध में आवेदन भेजा है। बम्बई के ही अन्तर्गत कसबा कल्लियाँ से 248 व्यक्तियों ने 23 अप्रैल 1856 को विरोध में आवेदन भेजा है। कलकत्ता प्रवासी 784 उत्तर–भारतीय लोगों ने भी 1856 के अप्रैल में विरोध का आवेदन भेजा है। पुणा से कई हस्ताक्षरकर्ताओं ने 15 अप्रैल 1856 को विधवाविवाह कानून के प्रस्ताव को दबा देने का आवेदन दिया है।

सारे आवेदनों को देखने पर स्पष्ट होता है कि विरोध में पड़े आवेदन में आवेदनकर्ताओं की संख्या पक्ष में पड़े आवेदनों की संख्या से ज्यादा थे। एक और बात का सन्देह भी होता है। पक्ष के आवेदन पड़ना शुरू होने के लगभग छह महीने के बाद से विपक्ष के आवेदन पड़ने शुरु हुये। इससे प्रतीत होता है कि प्रतिष्ठित हिन्दू समाज को यह भरोसा था कि अंग्रेज सरकार उनसे सलाह मशविरा किये बिना इस दिशा में कोई काम नहीं करेगी। लेकिन बाद में सरकार की गतिविधियाँ देख कर वे हलचल में आये।

यह ऐतिहासिक संग्राम सिर्फ आवेदन–प्रत्यावेदनों तक सीमित नहीं था। साहित्यकार, कवियों का भी दो दल हो गया था। कुछ विद्यासागर की प्रशस्ति में लिख रहे थे तो कुछ उन्हे गालियाँ दे रहे थे। अखबारों और पत्रिकाओं में दोनों तरह के गीत, कविता, निबन्ध आदि छप रहे थे। बल्कि हिन्दु समाज के कुछ संरक्षक तो किराये के गुन्डे लगा दिये विद्यासागर के पीछे, उन्हे जान से मार डालने के लिये। दूसरी ओर बंगाल के मशहूर तांतियों ने नई साड़ी बनाई, जिसके किनारे की पूरी लम्बाई में (बंगला में जिसे 'पाड़' बोलते हैं) विधवाविवाह के पक्ष में एवं विद्यासागर की प्रशस्त्ति में एक पूरा गीत उकेरा गया था। विरोधियों

ने एक और घटिया तरकीब सोचा। उधर बैरकपुर के हिन्दुस्तानी सिपाहियों में, बन्दूक के टोटे में लगाये जा रहे गाय और सुअर की चर्बी की खबरों को लेकर रोष फैल रहा था। यह सच था कि मुख्यतः आज के उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग से आये हुये उन सिपाहियों के पास जो खबरें पहुँच रही थी वह इसी प्रकार की थी कि अंग्रेज सरकार सिर्फ टोटे में चर्बी मिलाकर ही नहीं बल्कि उधर कलकत्ता में हिन्दू विधवाओं का जबरन विवाह करवा कर धर्म नष्ट कर रही है। विधवाविवाह के विरोधियों ने इस तथ्य का इस्तेमाल किया प्रचार में। बल्कि बगावत के बाद वे कहते फिरे कि बागी सिपाही इधर ही, कलकत्ता की तरफ आ रहे हैं– विधवाविवाह कराने वालों की और उस विद्यासागर की खबर लेने के लिये।

जो भी हो, सन 1856 के 26 जुलाई को विधवाविवाह कानून पारित हो गया।

उसके बाद कई विधवाविवाह हुये। कई विवाह तो विद्यासागर ने खुद खड़े होकर अपने खर्चे से करवाये। इतना खर्च किये कि खुद कर्ज के बोझ से दबते चले गये। सरकारी नौकरी छोड़ देने के कई वर्षों बाद दोबारा नौकरी तलाशनी पड़ी। अन्ततः नहीं किये नौकरी, वह एक अलग वृत्तान्त है। सिर्फ बंगाल ही नहीं, पूना, चेन्नई सहित कई जगहों पर विधवाविवाह आयोजित होने के खबर मिलते हैं। बंगाल में, कलकत्ता शहर से अधिक, गाँवों और मुफस्सिलों से विधवाविवाह सम्पन्न होने की खबरें आने लगीं।

लेकिन, यह तो सच था कि सतीदाह बन्द करने का कानून एक निरोधक कानून था। सजा का प्रावधान था। विधवाविवाह कानून न तो निरोधक कानून था और न हो सकता था। इसीलिये विधवाविवाहों का कोई ताँता नहीं लगने वाला था। लेकिन न सिर्फ नारियों की मुक्ति वल्कि प्रेम की मुक्ति की दिशा में एक बड़ा शंखनाद पूरे आसमान में ध्वनित हो चुका था। यही इस आन्दोलन की सफलता थी। इसे जातियों के प्रतिशत के आँकड़ों से नहीं विचारा जा सकता है। और विवाहों का होना बन्द नहीं हुआ। ऐसा नहीं, कि माहौल बदल गया, विद्यासागर दुनिया से चले गये, समाज के सामने दूसरे मुद्दे आ गये और विधवाविवाह के बारे में जो सकारात्मक सोच उभर कर आई थी उसे फिर से गले में पत्थर बाँध कर कूँए में डुबा दिया सनातन हिन्दु समाज के मठाधीशों ने। बंगला

साल 1312 के बैसाख (अंग्रेजी 1905, अप्रैल) अंक में 'भारती' पत्रिका का यह मंतव्य सामने है :

"बहुतों की धारणा है कि विद्यासागर द्वारा लागू किया गया विधवाविवाह सिर्फ कानून में लिखा रह गया है, व्यवहारिक तौर पर हिन्दू समाज ने इस सुधार के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई है। जबकि यथार्थ में, विधवाविवाह हिन्दुसमाज में क्रमशः शक्ति का संचय कर रहा है और पुष्ट हो रहा है।''

विद्यासागर के जीवनीकार जानकारी देते हैं कि इस उपरोक्त मन्तव्य के साथ पिछले साढ़े तीन सालों में हुये विधवाविवाहों की एक सूची भी भारती पत्रिका के उस निबन्ध में दी गई है। सूची अखिल भारतीय है और संख्या है, 81।

विधवाविवाह कानून लागू होने के सात साल के बाद वामाबोधिनी पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। प्रकाशक व सम्पादक तो पुरूष ही थे लेकिन लिख पढ़ रही महिलाओं के लेखन से यह पत्रिका देखते ही देखते भर उठा। आगे के वर्षों के महिला–लेखन की बुनियाद तैयार किया इस पत्रिका ने। इसी पत्रिका के एक अंक में प्रकाशित निबन्ध से विद्यासागर के जीवनीकार इन्द्र मित्र ने निम्नलिखित अंश उद्धृत किया हैः

"विधवाविवाह का प्रस्ताव जब बंगसमाज में उठा, तब अनेकों शिक्षित युवक साहस के साथ विवाह के लिये अग्रसर हुये थे। दो–एक ने विवाह किया भी था। उस समय विधवा कन्या का मिलना कठिन था। माता–पिता कन्या का विवाह देनें को आगे नहीं बढ़ रहे थे। इस सुधार पर उनको भरोसा नहीं था। विधवायें खुद भी उतनी तैयार नहीं थीं। लेकिन आज, दस से कुछ अधिक वर्षों की अवधि में हजार वर्षों का काम हो चुका है। लोगों की सोच और झुकाव में काफी परिवर्तन आया है। कष्ट एवं आवश्यकताओं के कारण अंधविश्वास मिट गया है। आज विधवाविवाह के सवाल पर समाज की स्थिति बिल्कुल विपरीत है। पहले कन्यायें तैयार नहीं थीं, वर तैयार थे , आज कन्यायें आगे बढ़ रही हैं, वर पीछे हट रहे हैं।"

●

AA 12 AA
ukjh l'kfädj.k % cgfookg d: f[kykQ l?k"k

बहुविवाह के खिलाफ संघर्ष भी विधवाविवाह के लिये संघर्ष के साथ ही शुरु हुआ था।

यह एक सच्चाई है कि नई शिक्षा से लैस होकर शहरी हिन्दु मध्यवर्ग के युवाओं की नजर (मुख्यतः 'उच्चजातीय') अपने ही समुदाय के भीतर व्याप्त सामाजिक बुराईयों की ओर पड़ने लगी। उन्होने बगावत किया। इस बगावत की कई धारायें आगे बढ़ीं। मुख्यतः चार धारायें हमें दिखती है। पहला, वे लोग जो हिन्दु धर्म के सभी रीतिरिवाजों का सिर्फ विरोध ही नहीं किये बल्कि यूरोपीय जीवनधारा को अपना लिये, कुछ ने तो धर्म ही त्याग दिया और इसाई बन गये। दूसरा, वे जो औपनिवेशिक प्रशासन और न्यायव्यवस्था में उनके समकक्ष होने के लिये विभिन्न गैर–बराबरियों के सवाल ब्रिटिश कानूनों के आइने में खड़े किये। तीसरा, जो अपने समाज में सुधार लाकर उसे आधुनिक बनाने की कोशिश किये। और चौथा, जो गरीब खासकर किसानों पर किये जा रहे जुल्म के खिलाफ आवाज उठाये। चारों धाराओं में से बड़े समाज–सुधारक भी आये, बड़े लेखक–कवि भी आये, बड़े पत्रकार भी आये। और इन सभी धाराओं के आगे की पीढ़ियाँ राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल भी हुईं। इस तीसरी और कुछ हद तक चौथी धारा में से ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आये। लेकिन अपने चरित्र की ज्योति, अपनी कर्मदक्षता और कर्मशक्ति, मानवप्रेम, दया, करुणा, और खास तौर पर अपने समूचे व्यक्तित्व की दृढ़ता और अनोखेपन से वह अनन्य बन गये।

बहुविवाह के सवाल पर विद्यासागर का पहला हस्तक्षेप सन 1871 में लिखी गई एक पुस्तिका के द्वारा हुआ। उसी पुस्तिका के विज्ञापन में वह 16 साल पहले बहुविवाह के खिलाफ शुरु किये गये कामों का जिक्र करते हैं :

"इस देश में बहुविवाह प्रचलित रहने के कारण, नारीजाति को सीमाहीन क्लेश का सामना करना पड़ रहा है एवं समाज का अनगिनत प्रकार से अनिष्ट हो रहा है। सरकारी कानून के बिना उस क्लेश व

अनिष्ट के निवारण की संभावना नहीं है। इस कारण से देश के लोग, समय समय पर, इस कुत्सित प्रथा के निवारण की प्रार्थना करते हुये राजद्वार पर आवेदन करते रहते हैं। सर्वप्रथम, 16 वर्ष पूर्व, श्री किशोरीचाँद मित्र महाशय के उद्यम पर 'बन्धुवर्गसमबाय' [विद्यासागर के जीवनीकार के अनुसार इस संस्था का नाम अलग था – सुहृद समिति], नाम के समाज से भारतवर्ष के प्रशासकीय समाज कम्पनी की सरकार को एक आवेदन दिया गया। प्रतिपक्ष का भी एक आवेदन पड़ा कि बहुविवाह शास्त्रसम्मत है, इसे बन्द करने पर हिन्दुओं का धर्म लुप्त होगा, अतः इस मामले में सरकार का हस्तक्षेप उचित नहीं होगा। इन दो आवेदनों के सुपुर्द किये जाने के अलावे उस समय और कोई कार्यक्रम होते हुये दिखाई नहीं पड़ा।

"दो वर्षों के बाद बर्द्धमान, नवद्वीप, दिनाजपुर, नाटोर, दिघापति आदि स्थानों के राजा एवं देश के लगभग सभी मुख्य लोगों ने बहुविवाह के निवारण के लिये प्रशासकीय समाज को आवेदन किया। कहा जा सकता है कि इस समय तक देश के लोग इस विषय पर एकमत हुये थे क्योंकि निवारण की प्रार्थना करते हुये लगभग सभी स्थानों से आवेदन आया था, जबकि खिलाफ की बातें किसी भी पक्ष से नहीं आई थी। सुप्रसिद्ध बाबू दिवंगत रमाप्रसाद राय महाशय ने इस समय, इस कुत्सित प्रथा के निवारण हेतु जिस तरह जतन किया था और पूरी उत्साह के साथ विभिन्न तरीके से जितना परिश्रम किया था, उसके लिये उन्हे हजारों बार साधुवाद देना चाहिये। पूर्णतः यह विश्वास हुआ था कि व्यवस्थापक समाज बहुविवाह निवारण की व्यवस्था करते हुये कानून बनायेगी। लेकिन, हतभाग्य देश के दुर्भाग्य के कारण उसी समय सरकार के विरुद्ध विद्रोह हुआ। सारे सरकारी अधिकारी विद्रोह के निवारण में पूर्णतः व्यस्त हो गये। बहुविवाह के निवारण की तरफ ध्यान देने का उन्हे अवकाश नहीं मिला।"

पुस्तक के विज्ञापन में इसके आगे भी बहुविवाह के खिलाफ कानून बनवाने के लिये हुये प्रयासों का बिन्दुवार जिक्र है। उसमें विद्यासागर पाँच साल पहले इस पुस्तक की रचना की शुरुआत और फिर बीमार पड़ जाने के कारण काम अधुरा रह जाने की चर्चा करते हैं।

अन्ततः इस पुस्तक के लिखे जाने का कारण वह बताते हैं जो काफी रोचक है।

"इधर के दिनों में सुनने को मिला है कि कलकत्ता स्थित सनातनधर्मरक्षिणी सभा के सदस्यों ने बहुविवाह के निवारण हेतु विलक्षण उद्यम ग्रहण किया है। उनकी नितान्त इच्छा है कि यह अति जघन्य, अति नृशंस प्रथा बन्द हो जाय। इस प्रथा के बन्द होने पर शास्त्र की अवमानना होगी कि नहीं एवं धर्म का अपवाद होगा की नहीं इस आशंका को समाप्त करने के लिये सभा के अध्यक्षगण धर्मशास्त्र के व्यापारी बड़े बड़े पंडितों की राय ले रहे हैं एवं सरकार की चौखट पर आवेदन करने के लिये, दूसरों के द्वारा किये जा रहे उद्यमों का जायजा ले रहे हैं। वे लोग अच्छे अभिप्राय से प्रेरित होकर जो इतने उत्तम, देश के लिये हितकर मामले में हस्तक्षेप कर रहे हैं, उसमें उन्हे थोड़ी सहुलियत होगी, यह सोच कर मैंने इस पुस्तक को मुद्रित एवं प्रचारित किया।

"पिछली बार जो उद्यम लिये गये थे, तो कुछ लोगों ने कहा था कि सरकार ने ही परामर्श देकर किसी व्यक्ति को इस मामले मे सक्रिय किया है और उसी लिये बहुविवाह के निवारण की प्रार्थना करते हुये आवेदनपत्र दिया गया है। किसी किसी ने कहा था कि जिनके उद्यम से आवेदनपत्र दिया गया है वे हिन्दू धर्म से द्वेष रखने वाले हैं, हिन्दू धर्म का लोप करने के अभिप्राय से उन्होने ऐसा उद्यम किया है। लेकिन सनातनधर्मरक्षिणी सभा के उद्यम में वैसा आरोप लगने की बिल्कुल संभावना नहीं है। इस देश में हिन्दू धर्म की रक्षा हो, इसी के लिये सनातनधर्मरक्षिणी सभा स्थापित हुआ है।"

फिर भी विरोध करने वाले लोगों पर कटाक्ष करते हुये अन्ततः कहते हैं, "सनातन धर्म रक्षिणी सभा से प्रार्थना है कि जब इस मामले में उन्होने हस्तक्षेप किया ही है तो बिना विशेष जतन एवं यथोचित प्रयास किये वे काम खत्म न समझें।"

मूल पुस्तक में पहले वह धर्मशास्त्र के अनुसार किस किस स्थिति में एक से अधिक विवाह का प्रावधान है उसकी व्याख्या करते हैं। फिर वह एक एक कर हिन्दु समाज की आपत्तियों को उठाते हैं और उनका जबाब देते हैं। पहली आपत्ति जिसे वह उठाते हैं वह है कि

'बहुविवाह शास्त्रानुसार एवं धर्मानुसार अभ्यास है'। और शास्त्रार्थों के बंधन में प्रतिपक्ष को ऐसा बांधते हैं कि उसे निकलने का रास्ता नहीं मिले। शास्त्रों का विवेचन कर वह अर्थ बताते हैं कि पहली पत्नी के जीवित रहते इतर जाति में विवाह करने के तो विधान हैं पर अपनी जाति में नहीं।

दूसरी आपत्ति उठाते हैं कि 'बहुविवाह बन्द होने पर कुलीन ब्राह्मणों का जातिपतन और धर्मनाश होगा'। बंगाल का इतिहास एवं लोकश्रुतियों के द्वारा पहले वह दिखाते हैं कि 'कुलीन' ब्राह्मणों की उत्पत्ति कैसे हुई, कितने प्रकार के 'कुलीन' मध्ययुगीय शासक द्वारा तय किये गये एवं क्यों किये गये। उसके बाद वह दिखाते हैं कि सभी 'कुलीन' कैसे कैसे धर्मभ्रष्ट और जातिभ्रष्ट हुये। फलतः अब वे कुलीन कहलाने योग्य हैं ही नहीं। उनका धर्मनाश बहुविवाह करने या न करने की प्रतीक्षा नहीं कर रहा है।

तीसरी आपत्ति में विद्यासागर 'भंगकुलीन' की बात को उठाते हैं कि बहुविवाह रहित होने पर भंगकुलीनों की कुलीन–मर्यादा खत्म हो जायेगी, क्योंकि शास्त्र के अनुसार कुलीनों की कन्या से विवाह करने पर ही उनकी 'भंग'पन अगली पीढ़ी में खत्म हो पायेगी। इस आपत्ति पर विचार करने के क्रम में वह भंगकुलीनों के, विवाह के बाद ब्याहता पत्नियों के प्रति किये गये व्यवहार की चर्चा करते है, उन ब्याहता पत्नियों के भयावह, नारकीय जीवन का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि इन भंगकुलीनों से नीच तो कोई है ही नहीं। ये ब्राह्मण क्या, मनुष्य कहलाने तक के योग्य नहीं हैं। क्या ऐसे नीचों के अनुरोध पर बहुविवाह चालु रहना चाहिये?

चौथी आपत्ति वह उठाते हैं कि 'बेशक एक समय कुलीनों का अत्याचार था, वे लोग बहुत सारे विवाह करते थे लेकिन अब वह प्रथा खुद व खुद खत्म हो रही है, कुछ दिनों में पूरी तरह समाप्त हो जायेगी। इसलिये इस प्रथा को बन्द करने हेतु कानून की आवश्यकता नहीं है'। इस आपत्ति के खण्डन के क्रम में विद्यासागर पूरी सूची पेश करते हैं यह दिखाने के लिये कि बहुविवाह की प्रथा यथावत है, थोड़ी सी भी कमी नहीं आई है। आदमी का नाम, गाँव, जिला बताते हुये वह सूचीबद्ध करते

हैं कि किस तरह 55 वर्ष की उम्र का कुलीन ब्राह्मण 80 विवाह किये हुये है, 64 वर्ष की उम्र का कुलीन ब्राह्मण 72 विवाह किये हुये है और 18 वर्ष का युवा कुलीन भी 11 विवाह किये हुये है। यह एक लम्बी सूची है जिसमें सिर्फ वे ही नाम हैं जो चिन्हित किये जा सके हैं और जिन्होने दस या उससे अधिक विवाह किये हैं। दस के नीचे वालों की तो कोई गिनती संभव ही नहीं है। आगे एक अलग सूची में सिर्फ एक गाँव के 64 ब्राह्मणों का नाम और उम्र और विवाह की संख्या (एक से अधिक) उन्होने दिया है।

पाँचवीं आपत्ति कायस्थों की थी कि बहुविवाह बन्द होने पर उनके 'आद्यरस' की प्रथा में विघ्न उत्पन्न होगी। पहले तो विद्यासागर स्पष्ट कह देते हैं कि इस प्रथा के न होने से न तो 'कायस्थों का जातिपतन एवं धर्मनाश होता है' और न ही उनके 'विवाह इत्यादि में कोई असुविधा' होती है। उसके बाद वह इस 'आद्यरस' का अर्थ एवं वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करते हैं। तत्कालीन जाति–नियमों के अनुसार बंगाल के कायस्थ दो भाग — कुलीन व मौलिक – में विभाजित है, वह दिखाते हैं। फिर विवाह के नियमों का वर्णन करते हुये वह बताते हैं कि एक तरफ कायस्थ विवाह की व्यवस्था कहती है कि कुलीन ज्येष्ठपुत्र का विवाह कुलीन कन्या से ही होना चाहिये। दूसरी ओर, मौलिक कायस्थ कुलमर्यादा बढ़ाने के लिये अपनी कन्या का विवाह कुलीन ज्येष्ठपुत्र से ही करना चाहते हैं। फलस्वरूप, पहला विवाह कुलीन घर में कर कुलरक्षा कर चुके ज्येष्ठपुत्र से ही मौलिक कायस्थ अपनी कन्या का विवाह करते हैं। कुलीन कायस्थ ज्येष्ठपुत्र जो मौलिक कायस्थ घर में दूसरा विवाह करता है उसे ही 'आद्यरस' कहते हैं और वह वर, मौलिक घर में 'आद्यरस का वर' कहलाता है। आगे विद्यासागर दिखाते हैं कि एक तरफ इस 'आद्यरस के वर' को प्राप्त करने और अपने घर में आवभगत करने में मौलिक कायस्थ आर्थिक रूप से खस्ताहाल हो जाते हैं और दूसरी तरफ, 'आद्यरस का वर' बना पति के न रहने से अकेली ब्याहता कुलीनकन्या की क्या हालत होती है।

छठी आपत्ति ये होती थी कि बहुविवाह एक सामाजिक व्याधि है, सामाजिक तरीके से ही इसका रोध होना चाहिये, सरकार को इसमें

हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिये। विद्यासागर व्यंग करते हुये हिन्दु समाज की कुछ कुरीतियों को गिनाते हैं जो न तो समाप्त हुआ न किसी ने प्रयास किया समाप्त करने के लिये। इसी में वह दहेज प्रथा को भी गिनाते हैं और दिखाते हैं पढ़े लिखे घरों में, पढ़े लिखे लड़के विवाह के लिये अधिक से अधिक कीमत में बेचे जाते हैं और यह बीमारी गाँवों से अधिक कलकत्ता शहर में है।

सातवीं आपत्ति थी कि जब भारत के सभी प्रान्तों में, हिन्दु और मुसलमान दोनों सम्प्रदाय के लोगों में बहुविवाह प्रचलित है, तब सिर्फ बंगाल के हिन्दु सम्प्रदाय के लोगों ने क्यों आवेदन किया है। विद्यासागर कहते हैं कि बंगाल के हिन्दु सम्प्रदाय का जितना अनिष्ट इस प्रथा के कारण हो रहा है, शायद अन्य प्रान्तों में उतना नहीं हो रहा है। बंगाल के मुसलमान सम्प्रदाय में भी उतना दोष या अनिष्ट दिखाई नहीं पड़ता है। बंगाल के हिन्दु सम्प्रदाय में यह प्रथा बन्द हो जाने से न तो यहाँ का मुसलमान समाज विरोध करेगा और न ही अन्य प्रान्त के लोग और, कहीं नही हुआ इसलिये बंगाल के हिन्दु सम्प्रदाय के लोग आवेदन करने पर भी सरकार न करें यह राजधर्म नहीं है। आगे थोड़ी आलोचना के स्वर में वह कहते हैं कि जिस अंग्रेज सरकार ने कई प्रान्तों के लोगों के विरोधाों के बावजूद सतीप्रथा को बन्द कर दिया था वह बहुविवाह के रोध हेतु बार बार लिखे जाने के बावजुद कोई कदम नहीं उठा रही है।

अन्त में कुछ और प्रासंगिक बातों को कहते हुये वह उस आपत्ति को काटते हैं जो कहता है कि कुछ लोग नाम कमाने के लिये सरकार के पास आवेदन किये हैं। विद्यासागर जिक्र करते हैं कि बीस हजार से अधिक लोग आवेदन करने में शामिल हैं, इतने सारे लोग सिर्फ कुछ लोगों को नाम कमाने देने के लिये हस्ताक्षर करेंगे, इतने मूर्ख और बेकार नहीं हैं। फिर वह कुछ बड़े महत्वपूर्ण लोगों का नाम गिनाते हैं जिन्होने हस्ताक्षर किया है।

पर बात यहीं खत्म नहीं हुई। क्योंकि हिन्दू समाज के अकर्मण्य उच्चजातीय समुदाय में बहुविवाह कुछ के लिये आय का जरिया था तो कुछ के लिये दैहिक हवस का। इसलिये बड़े बड़े नामी कुछ पंडित कूद पड़े बहुविवाह के समर्थन में शास्त्रों की अपव्याख्या करने के लिए।

उन्होने किताब लिखे, पर्चे बाँटे। विद्यासागर के खिलाफ हर तरीके से उन्होंने झूठा प्रचार किया। तब विद्यासागर ने पहले तो छोटा एक पर्चा लिखा। फिर पहले से काफी बड़ा एक पुस्तक लिखना पड़ा उन्हें। बहुविवाह के समर्थन में लिखी गई एक एक पुस्तिका को सामने रखकर उनमें जिक्र किये श्लोकों और कथनों को पूरा का पूरा उद्धृत कर दिखाया गया कि किस तरह वे चतुर पंडित आधा अधूरा उद्धरण प्रस्तूत कर अपने भोगलालसा के समर्थन में व्याख्या कर रहे थे।

सन 1872 में लिखे गये पुस्तक के आगे विद्यासागर कुछ कर नहीं पाये। वास्तविकता यही है कि कोई भी कुछ नहीं कर पाया। स्वतंत्रता की प्राप्ति के पूर्व बहुविवाह के खिलाफ कोई कानून बना ही नहीं। हिन्दू समाज के लिये पहला कानून सन 1956 में बना।

●

AA 13AA

ukjh l'kfädj.k % ckyfookg dk fojk/k

सन 1850 में 'सर्वशुभंकरी' नाम की मासिक पत्रिका में 'बाल्यविवाहेर दोष' (बालविवाह की बुराईयाँ) शीर्षक एक निबंध प्रकाशित हुआ था। उक्त पत्रिका में किसी भी आलेख के साथ लेखक का नाम नहीं था। पर बाद में विद्यासागर के समसामयिक, मित्र राजनारायण बसु लिखित 'आत्मचरित' तथा विद्यासागर के सहोदर शम्भुचन्द्र विद्यारत्न लिखित 'विद्यासागरेर जीवन चरित' ग्रंथ में जिक्र हुआ कि वह निबंध ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का ही लिखा हुआ है।

"आठवीं साल की उम्र में कन्या का दान करने से गौरीदान का पुण्योदय होता है, नौवीं साल की उम्र वाली को दान करने से पृथ्वी–दान का फल मिलता है, दसवीं साल वाली को पात्र के हाथों में देने से परलोक में पवित्र स्थान की प्राप्ति होती है आदि जो लाभ स्मृतिशास्त्र द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं, उसी की मृगतृष्णा में मुग्ध होकर बिना परिणाम की विवेचना किये हमारे देश के सभी लोग बाल्यकाल में विवाह की प्रथा का प्रचलन किये हैं।"

इन्ही पंक्तियों से वह निबन्ध की शुरूआत करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है इस मसले पर उन्हे आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिला। लेकिन प्रेम और दाम्पत्य के बारे में या मानव–जीवन में उसके महत्व के बारे में वह क्या सोचते थे इसकी एक झलक उनके इस निबन्ध में देखने को मिलता है।

"मन की एकता ही प्रणय का मूल है। वह एकता उम्र, स्थिति, रूप, गुण, चरित्र, बाह्य भाव एवं आन्तरिक भाव आदि बहुत सारे कारणों पर निर्भर करती है। हमारे देश के बालदम्पति एक दूसरे का आशय नहीं जान पाये, एक दूसरे के अभिप्राय को समझने का उन्हे मौका नहीं मिला, स्थिति के बारे में जानकारी नहीं ले पाये, भैंट–मुलाकात के द्वारा एक दूसरे के चरित्र के बारे में जानना तो दूर, एक बार ठीक से नजरें भी नहीं मिली उनकी, केवल एक उदासीन बातुनी घटक के व्यर्थ उत्तेजक बातों पर भरोसा करते हुये पिता–माता ने जैसी अभिरुचि बनाई, वही बेटी और बेटे के लिये विधि के लिखे जैसी, सुखदुख की अलंघ्य सीमा बन गई।

इसीलिये हमारे देश में दाम्पत्य के बन्धन में निश्छल प्रणय प्रायः नहीं दिखता है, प्रणयी बस भात–भोजन देने वाला और प्रणयिनी घर की नौकरानी बन कर संसार–यात्रा का निर्वाह करते हैं।"

"... प्राचीन समाज में लगभग सभी जातियों में विवाह अधिक उम्र में होते थे। हालाँकि उस समय होने वाले विवाहक्रिया का शास्त्र में आठ प्रकार का उल्लेख मिलता है, फिर भी अधिक उम्र में होने वाले गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच – ये चार प्रकार के विवाह अधिक प्रचलित थे। इनके अलावे स्वयम्वर प्रथा का भी प्रचलन था और ये सभी प्रकार के विवाह, वर एवं कन्या के अधिक उम्र के न होने पर संभव ही नहीं है।"
"लोकाचार व शास्त्र के प्रयोग के बन्धन में आबद्ध होकर दुर्भाग्य से हमलोग पीढ़ी दर पीढ़ी बालविवाह के कारण अन्तहीन क्लेश एवं निरन्तर दुर्दशा भोग रहे हैं। बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के कारण विवाह का जो मीठा फल है – मधुर प्रणय – उसका स्वाद दम्पतियों को कभी भी नहीं प्राप्त होता है। बल्कि, अगर परस्पर प्रणय के साथ घरसंसार करना चाहे भी तो हर कदम विड़म्बनायेँ झेलनी पड़ती हैं। और, परस्पर के बीच अप्रीतिकर सम्बन्ध से जो सन्तान की उत्पत्ति होती है उसका भी उन्ही की तरह कुन्ठित होने की अधिक सम्भावना होती है। नवविवाहित बालक–बालिकायें परस्पर के मनोरंजन हेतु रसभरी बातें, उसी में उस्तादी, वाक–चातुर्य, कामकला कौशल इत्यादि के अभ्यास व अभिव्यक्ति में हर वक्त लगे रहते हैं। उस दिशा में आवश्यक उपायों की परिपाटी के बारे में सोचने में तत्पर रहते हैं। फलस्वरूप, उनके विद्याभ्यास में वाधा उत्पन्न होता है। जगत का जो सार है, विद्या, उसी धन से वंचित होकर वे सिर्फ मनुष्य की आकृति रह जाते हैं। दर–असल, वास्तविक मनुष्य में उनकी गिनती भी नहीं होती।"

"सभी सुख का जो मूल है, दैहिक स्वास्थ्य, बालविवाह में उसका भी क्षय होता है। अन्यान्य जातियों की अपेक्षा हमारे देश के लोगों के शारीरिक व मानसिक सामर्थ्य में जो नितान्त कमी है, उसका कारण अगर ढूंढ़ा जाय तो बालविवाह ही निःसन्देह प्रधान कारण माना जायेगा।"

"हाय! कब हमें इस दुरवस्था से उद्धार करेंगे जगदीश्वर। और वह शुभदिन भी कितने समय के बाद आयेगा। खैर, आजकल इस विषय

को लेकर जो आन्दोलन हो रहे हैं, उस से मंगल होगा। शायद कभी न कभी इस देश के लोग उस आगामी शुभ दिन के शुभ आगमन पर सुख की स्थिति में जी पायेंगे।"

आगे इस निबंध में विद्यासागर 'सभ्य, सुशिक्षित' व्यक्तियों से अनुरोध करते हैं कि वे नारीशिक्षा के लिये जितना उद्यम दिखायें, उतना ही उद्यम बालविवाह को खत्म करने में भी दिखायें, नहीं तो लक्ष्य की प्राप्ति कभी नहीं होगी। साथ ही, 'जन्मकाल से बीस वर्षों की उम्र तक' मृत्यु की अधिक संभावना प्रस्तावित करते हुये, विद्यासागर कहते हैं कि अगर बीस वर्ष की उम्र पार करने के बाद विवाह हो तो विधवाओं की संख्या भी अधिक नहीं होगी। [निबंध में जिक्र नहीं है पर स्पष्ट है कि मृत्यु की यह उम्रसीमा पुरुष के लिये एवं दैहिक विकास सम्बन्धित होगी, व०ले०]

सन् 1891 में जब फूलमणि यौन–हत्याकांड के बाद पहली बार भारत में स्वीकृति की उम्र (एज ऑफ कॉन्सेन्ट) पर कानून बनाने का सवाल आया तो विद्यासागर जीवित थे। सरकार उनसे राय मांगी। विद्यासागर ने दिनांक 16 फरवरी 1891 को जो लिखित जबाब दिया वह इस प्रकार थाः– "मेरा प्रस्ताव होगा कि किसी पुरुष के लिये, उसकी पत्नी के प्रथम मासिक होने के पूर्व विवाह क्रिया को सम्पूर्ण करना, सहवास करना, दण्डनीय अपराध हो। चुँकि बहुसंख्यक लड़कियाँ 13, 14, या 15 साल की उम्र के पहले वह लक्षण प्राप्त नहीं करती, इसलिये मेरा प्रस्तावित कदम विधेयक से अधिक व्यापक, अधिक वास्तविक एवं अधिक बड़ी सुरक्षा प्रदान करेगा। साथ ही साथ, उस कदम का विरोध, धार्मिक क्रिया में हस्तक्षेप का आरोप लगा कर भी नहीं किया जा सकेगा।"

आगे विद्यासागर बालिका–पत्नियों की स्थिति के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुये यह भी जोर डालते हैं कि धार्मिक शास्त्रों में नियमों के उल्लंघन की सजा चुँकि आध्यात्मिक किस्म की है, इसलिये सरकारी दण्डात्मक कानून बनना ही चाहिये।

भारत में बालविवाह निरोधक कानून पहलीबार 1929 में बना जिसमें लड़की की उम्रसीमा 15 की गई। उसके पहले सिर्फ भारतीय दण्ड संहिता 1860 के अनुसार बलात्कार की उम्रसीमा (रजामन्दी या पत्नी होने के बावजूद) 10 वर्ष थी जिसे 1891 में उपरोक्त फूलमनी–मृत्युकांड के उपरान्त 12 वर्ष किया गया था।

●

AA 14 AA

ckXykHkk"kk o lkfgR; dk fodkl

यह काम पूरी तरह बांग्ला भाषा एवं साहित्य से सम्बन्धित है। अतः इसके पहलुओं पर यथासंभव संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

ubl o vk/kfud x|jhfr dh 'k#vkr& कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर विद्यासागर के वारे में कवितायें और गद्य दोनों लिखे। 'विद्यासागर चरित' में वह लिखते हैं, "विद्यासागर बंगलाभाषा के प्रथम, वास्तविक शिल्पकार थे। उनसे पहले बंगला गद्यसाहित्य की शुरुआत हो चुकी थी, लेकिन वही सबसे पहले बंगला गद्य में कला की निपुणता ले आये।''

अपनी विख्यात आत्मजीवनी 'जीवनस्मृति' में रवीन्द्रनाथ 'वर्णपरिचय' पढ़ने के अपने शैशवकालीन अनुभव के बारे में बताते हैं। विद्यासागर द्वारा रचित 'वर्णपरिचय' में, शिशुओं को बांग्ला वर्णमाला, शब्द गठन और वाक्य निर्माण सिखाते हुये लेखक बिना युक्ताक्षर का पहला वाक्य पढ़ने के लिये देते हैं, "जल पड़े, पाता नड़े'। पानी गिरता है, पत्ता हिलता है,। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "केवल याद आता है, 'जल पड़े, पाता नड़े'। उस समय तक 'कर खल' इत्यादि शब्दों के हिज्जे का तूफान पार कर बस किनारे पहुँचा ही था। उस दिन पढ़ रहा था, 'जल पड़े, पाता नड़े'। मेरे जीवन में यही आदि कवि की पहली कविता थी। उस दिन का आनन्द आज भी जब याद आता है तब समझता हूँ कि कविता में मेल तुक, क्यों जरुरी है। मेल है इसीलिये वह पंक्ति खत्म होकर भी खत्म नहीं होती है– जब उसका वक्तव्य खत्म हो जाता है तब भी उसकी झंकार खत्म नहीं होती है, मेल को लेकर ज्ञान के साथ मन के साथ खेल चलते रहता है। इसी तरह घूम घूम कर उस दिन मेरे समस्त चैतन्य में पानी गिरते और पत्ते हिलते रहे ["रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जीवनस्मृति, पृ० 3'']

बांग्ला साहित्य के प्रख्यात इतिहासकार सुकुमार सेन कहते हैं, "उनसे पहले राममोहन राय ने लिखा था कामकाज का गद्य, मृत्युंजय तर्कालंकार ने लिखा था पंडिताई गद्य। इन दोनो स्टाइलों में से किसी

में भी सभी अर्थों की अभिव्यक्ति देने, सभी काम संभव करने और भावों के वजन को ढोने की क्षमता नहीं थी। बांग्ला भाषा की, हिलने–डुलने वाली इस गद्यरीति का सुधार कर विद्यासागर नें इसे स्थायी सामान्य व सार्वजनिक रूप दिया। ('सर्वजन' कह कर यहाँ थोड़ा बहुत शिक्षित बंगाली की ही बात कर रहा हूँ)। आज के अर्थों में विद्यासागर शायद 'साहित्यिक' नहीं थे, साहित्यसेवक भी नहीं थे, लेकिन उन्होने साहित्य के रथ के लिये रास्ता बना दिया था। वह थे साहित्य के यथार्थ मार्गनिर्माता।" [विद्यासागरिका, सुकुमार सेन, प्रसंगः विद्यासागर, सम्पादकः विमान बसु, प्रकाशकः बंगीय साक्षरता प्रसार समिति, 1970], बंगला साहित्य एवं नाट्यसाहित्य के विद्वान आलोचक अजित कुमार घोष 'शकुन्तला' एवं सीतार वनवास' की समीक्षा करते हुये कहते हैं कि दोनों रचनाओं की "भाषा बिल्कुल आधुनिक बांग्ला साधुभाषा है। संस्कृत शब्दों के नपे–तुले इस्तेमाल में, पढ़ने में तृप्ति के लिहाज से, अर्थपूर्णता में एवं छन्द के स्वाभाविक माधुर्य में इन रचनाओं की समसामयिक कोई तुलना नहीं है। बांग्ला गद्य के इस स्वाभाविक छन्द का आविष्कार साहित्यिक विद्यासागर की प्रधानतम कीर्ति है।"

आगे कहते हैं, "साथ ही, और एक बात गौर करने वाली है। शकुन्तला का लालित्य सीतार वनवास में नहीं है, बल्कि उसकी जगह ली है गंभीरता। यानी भाषा विषय के अनुरूप है। विषय के अनुरूप भाषा का गठन किसी भी साहित्यकार के लिये एक चुनौती है। उनकी शक्ति का वास्तविक परीक्षण उसी में होता है। ''उस चुनौती को स्वीकारने के कारण ही, उनमें सहजात रस का जो बोध था, जो अर्जित प्रज्ञा थी एवं जो दुर्लभ सामाजिक जागरूकता थी, उन सभी चीजों की परिणति हुई उनके लेखन की साहित्यिक सिद्धि।" [गद्यसाहित्ये विद्यासागर, अजित कुमार घोष, विद्यासागर स्मारकग्रंथ, सम्पादक गोलाम मुर्शिद, प्रकाशकः विद्योदय लाइब्रेरी प्राइवेट लिमिटेड, पहला भारतीय संस्करण, 1970],

o.kekyk ,o o.k&f'k{k.k dk 'kk/ku

प्रोफेसर गुरुचरण सामन्तो पटना स्थित कॉमर्स कॉलेज के प्राचार्य थे। साथ ही, बिहार के बांग्लाभाषियों की अस्मिता के संघर्ष के वह मार्गदर्शक रहे। बांग्लाभाषा के पठनपाठन, पाठ्यपुस्तक लेखन आदि

के क्षेत्र में उनकी बड़ी भूमिका रही। उन्होने विद्यासागर द्वारा किये गये बंगला वर्णमाला के शोधन के बारे में कहाः "90 के दशक में बिहार सरकार साल में 33 लाख रुपयों का बंगला पाठ्यपुस्तक छापती थी। अब झारखंड सरकार यह भार लेने को राजी हुई है..... बंगला पाठ्यपुस्तक के सरकारीकरण के बाद पहली कक्षा एवं दूसरी कक्षा के रीडर तैयार करने की जिम्मेदारी मुझे दी गई थी। उन ग्रंथों को रचने में गाइड लाइन हमलोग जरूर NCERT का अनुसरण किये थे पर सैद्धांतिक पद्धति के लिये जिन दो पुस्तकों से हमने सबसे अधिक मदद ली थी वे थे विद्यासागर का 'वर्णपरिचय' एवं रवीन्द्रनाथ का 'सहजपाठ'। बिहार के लिये बांग्ला रीडर लिखते हुये हमने विस्मय के साथ गौर किया कि प्राथमिक भाषा–पाठ की रचना के लिये केन्द्रीय सरकार के NCERT ने जो गाइड लाइन भेजा था वैसा ही गाईड लाइन का उपयोग लगभग डेढ़ सौ साल पहले विद्यासागर ने अपना 'वर्णपरिचय' लिखने में किया था। उन्होने क्या अंग्रेजी किताब से यह पद्धति ली थी? आधुनिक काल की मुख्य पद्धतिः शब्द एवं वाक्यों के क्रम में वर्णमाला की शिक्षा प्रदान, पहले शब्द सीख कर फिर शब्दों को जोड़ जोड़ कर वाक्यों का निर्माण, वर्ण एवं शब्दों की पुनरावृत्ति आदि विज्ञानसम्मत पद्धति का उपयोग उन्होने किया था। 'वर्णपरिचय' की रचना में उनके द्वारा किये गये कुछ और क्रांतिकारी प्रयोगों का जिक्र करना जरूरी है। वे थेः प्राचीन विद्वानों की धमकियों को अनसुनी करते हुये वाक्य में कॉमा, सेमिकोलॉन, प्रश्नचिन्ह, हाइफेन, डैश आदि विराम एवं विच्छेद चिन्हों का उपयोग करना, पैराग्राफ बाँट कर लिखना इत्यादि। यह सब उन्होने बलपूर्वक बांग्ला भाषा में प्रचलित किया था। उनके वैज्ञानिक व क्रांतिकारी बलप्रयोग का एक और दृष्टांत है बांग्ला वर्णमाला का सुधार। जैसेः

(क) बांग्ला वर्णमाला से दीर्घ–'ॠ तथा दीर्घ–लृ को निर्वासित करना,

(ख) अनुस्वार एवं विसर्ग को स्वरवर्ण से हटाकर व्यंजन वर्ण में ले आना,

(ग) ड़, ढ़ एवं य को स्वतंत्र वर्ण के तौर पर व्यंजन वर्ण में जगह देना,

(घ) क्ष वर्ण को युक्त–वर्ण के रूप में चिन्हित कर वर्णमाला से बाहर करना,

(ङ) खंड–त को बांग्ला में '   ', आधा व्यंजन मान कर पाठ्यांश में

कोई स्वतंत्र पाठ न देना एवं अन्त में ‘ ’ एवं ‘ ’का युक्त पाठ देना, आज कल भी कई लोग खंड–त को समाप्त कर त पर हलन्त लिखने के पक्ष में हैं,

(च) चन्द्र विन्दु को स्वतंत्र व्यंजन वर्ण की स्वीकृति देना।

इस तरह विद्यासागर ने पहले के 16 + 34 = 50 वर्णों को नये ढंग से सजा कर 12 + 40 = 52 वर्णों में सीमित कर दिया जो आज भी बांग्ला भाषा में इस्तेमाल हो रहा है (हालाँकि बहुतों ने आज कल लृ का वर्जन किया है)। उन दिनों का अखबार खोलने पर दिखेगा कि इन ‘म्लेच्छ’ सुधारों के विरोध में पोंगापंथी पंडितों ने जो हल्ला मचाया था उससे विद्यासागर विचलित नहीं हुये।” [गुरुचरण सामन्तो, ‘बिहारे विद्यासागर ओ वर्णपरिचय’, प्रतर्क, दिसम्बर 2005]

çkbej dh jpuk & उपर में ही ‘वर्णपरिचय’ का जिक्र है। वर्णपरिचय के प्रकाशन के पहले भी बांग्ला के कई मुद्रित प्राइमर बंगाल के बाजार में उपलब्ध थे। लेकिन वे लोकप्रिय नहीं बन पाये थे। पाठशालाओं और विद्यालयों में गुरुजी अपने स्मरण से ही बच्चों को वर्णमाला एवं भाषा की प्राथमिक पढ़ाई करा देते थे। लेकिन विद्यासागर उस वर्णमाला एवं उसकी पढ़ाई में क्रांतिकारी परिवर्तन ले आये। इसलिये 2 पैसे की कीमत का यह नन्हा सा पुस्तक आने के कुछ वर्षों बाद से ही बाजार में ऐसा छाया कि आज भी छाया हुआ है। कहा जाता है कि जब विद्यासागर गाँवों में विद्यालय परिदर्शन के लिये जाते थे, उसी दौरान पाल्की में बैठे बैठे उन्होने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार की। आज, डेढ़ सौ साल बाद भी बांग्ला सीखने का सबसे अधिक मानक प्राइमर है ‘वर्णपरिचय’। इसके पहले भाग एवं दूसरे भाग, दोनों का पहला संस्करण सन 1855 में प्रकाशित हुआ था। पहले भाग का अन्तिम संस्करण जो खुद विद्यासागर के हाथों किया गया था, उसका प्रकाशन उनके कर्माटाँड़ के पते से सन 1875 के जाड़े में हुआ था। वह संस्करण साठवाँ था, यानि, बीस वर्षों में इस पुस्तक के साठ संस्करण प्रकाशित हुये थे। जबकि दूसरे भाग का बासठवाँ संस्करण एक साल बाद यानि 1876 में विद्यासागर के हाथों सम्पन्न हुआ था। आज भी पश्चिम बंगाल सरकार इस पुस्तक के दोनों भागों को मुख्य प्राईमर का दर्जा दिये हुये है। ●

AA 15 AA
iLrdk dk lEiknu

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा किये गये सम्पादनों का इतिहास भी सामान्य नहीं है। जीवनीकार जो हिसाब देते हैं उसके अनुसार, स्वरचित पुस्तकों के अलावे भी बारह महत्वपूर्ण पुस्तकों का सम्पादन उन्होने किया। जिसमें बांग्ला एवं हिन्दी का एक एक पुस्तक था। बाकि दस संस्कृत के पुस्तक थे।

बांग्ला पुस्तक ‘अन्नदा मंगल’ के लिये कृष्णनगर राजमहल जाकर असली ‘अन्नदामंगल’ की पाण्डुलिपि जुटाने से लेकर अपना छापाखाना, संस्कृत प्रेस के पहले मुद्रणकार्य के रूप में छापे जाने एवं उसकी प्रतियाँ फोर्ट विलियम कॉलेज द्वारा खरीदे जाने तक की पूरी कहानी इसी पुस्तक के अन्य अध्याय में बताई गई है।

हिन्दी पुस्तक ‘बेताल पच्चीसी’ का सम्पादन उन्होंने सन 1852 में किया। दिनांक 15 जनवरी को लिखी गई इसकी भूमिका में इस पुस्तक के बारे में सम्पादक का कठोर मन्तव्य गौरतलब हैः "The work contains no traces of art and genius in its composition; but on the contrary exhibits those clumsy attempts at the wonderful; sometimes bordering on childishness, which are so general in the Legends of a dark age. It is however, very popular among the great mass of the people of this country and expresses accurately their ideas and feelings on so many subjects. This fact, and the circumstance of the Hindee version being highly idomatic and correct in its style' render this work an excellent Text book for students of the Hindee language."

भूमिका में लिखा है कि 1805 में पहली बार प्रकाशित इस पुस्तक के अनुवाद को मोएट साहब के आदेशानुसार तारिणीचरण मित्र ने पुनरीक्षण किया है। अपने सम्पादन के बारे में विद्यासागर लिखते हैंः

"...... In bringing out the edition now presented to the public, the Original Text of 1805 and the Agra Edition of 1843, have been carefully collated. The former has been generally adhered to; but the latter, though sometimes inferior in accuracy, has been occassionally followed in instances where it appeared judiciously modernised in its style of expression and orthography. The correct Sanskrit forms of the proper names, as far as they can be traced, have been inserted in the places, where they occur, at the foot of the page. Some do not admit of

Sanskrit equivalents; and it is evident that the Translators were not particular in this point, and adopted popular epithets at their own pleasure."

संस्कृत के जो पुस्तक विद्यासागर ने सम्पादित किये वे थे, 'रघुवंशम', 'किराताज्जुनीयम', 'सर्वदर्शनसंग्रहः', 'शिशुपालवध', 'कुमारसंभव', 'कादम्बरी', 'मेघदूतम', 'उत्तरचरितम', अभिज्ञानशकुन्तलम' एवं 'हर्षचरितम'। वह खुद बताते हैं (रघुवंशम की भूमिका में) कि इनमे से अधिकांश पुस्तक पहले से उपलब्ध थे। लेकिन टीका टिप्पणियों के साथ भारी भरकम उन ग्रंथों की कीमत छात्रों की पहुंच से बाहर की होती थी। इसी कारण से उन्होने मूल कथ्य का सुलभ संस्करण तैयार किया है और आगे भी 'किराताज्जुनीयम', 'शिशुपालवध', 'कुमारसंभव' आदि दूसरे संस्कृत ग्रंथों का ऐसा ही सुलभ संस्करण तैयार करते रहेंगे। साथ ही, आगे वह यह भी बताते हैं कि संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ यह महाकाव्य 'रघुवंशम' सर्वांगसुन्दर है फिर भी कुछेक श्लोक छात्रों के लिये पठनीय नहीं है.... उन श्लोकों को उन्होने हटा दिया है; यही पद्धति वह आने वाले ग्रंथों के सम्पादन में भी अपनायेंगे।

यहीं, यह भी बताते चलें कि संस्कृतवाङ्मय का सिर्फ धार्मिक शास्त्रों वाला हिस्सा नहीं बल्कि साहित्य के भी वह उतने ही बड़े ज्ञाता थे एवं सन 1853 में उनके द्वारा बीटन सोसायटी में दिया गया एक घंटे का भाषण, 'संस्कृतभाषा ओ संस्कृतसाहित्यशास्त्र विषयक प्रस्ताव', संस्कृत भाषा एवं साहित्य के भंडार को उजागर करने की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण हुआ कि लोगों के अनुरोध पर उसे छापना पड़ा। 167 वर्षों के बाद आज भी उसका पाठ प्रासंगिक एवं ज्ञान–वर्धक है।

खैर, लेकिन इन सबसे अलग है भारतीय दर्शन की धाराओं का श्रेष्ठ प्राचीन संग्रह, माधव आचार्य रचित सर्वदर्शनसंग्रह के सम्पादन का महत्व। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यही स्थिति थी कि इस ग्रंथ का जिक्र संस्कृत के विद्वान एवं योरोपीय भारतविद किया करते थे लेकिन मूल ग्रंथ का पता नहीं था। खबरें आती थी कि कलकत्ता में, बनारस में या और कहीं इस ग्रंथ के पाण्डुलिपि की अलग अलग प्रतियाँ उपलब्ध हैं पर कोई ऐसा होना चाहिये संस्कृत के ज्ञाता एवं ऐतिहासिकता को जाँचने के आधुनिक उपकरणों से लैस जो उन पाण्डुलिपियों का मिलान कर सही कथ्य को सम्पादित करे – तभी उसका प्रकाशन हो सकता है। विद्यासागर ने वही किया।

सन 1882 में 'सर्वदर्शनसंग्रह' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया लन्दन स्थित ट्रुबनर एन्ड कम्पनी ने। अनुवादक थे ई॰ बी॰ कावेल एवं ए॰ ई॰ गव। दोनों मशहूर प्राच्यविद थे। आमुख में कावेल लिखते हैंः

"I well remember the interest excited among the learned Hindus of Calcutta by the publication of the Sarva-Darsana-Samgraha of Madhava Acharya in the bibliotheca Indica in 1858. It was originally edited by pandit Isvarachandra Vidyasagara, but a subsequent edition, with no important alterations, was published in 1872 by pandit Taranatha tarkavachaspati." E- B- Cowell, (Preface to Sarva Darshana Sangraha of Madhav Acharya) Translated by E. B. Cowell & A. E. Gough, Trubner & Co. Ludgate Hill, London, 1882)

स्वसम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' का, सन 1858 के 20 जनवरी को विद्यासागर लिखित आमुख का यह हिस्सा उद्धृति–योग्य है :

"The Sarvadarsanasamgraha is a work by Madhavacharya, the well-known scholiast of the Vedas. It contains short notices of all the systems of Indian Philosophy, and as such is very valuable. It is natural to suppose that every Indian Sanskrit scholar would have posessed a copy of a treatise of so much importance. But it is somewhat singular that manuscripts of the work are very rare, and that the great majority of the learned of this country are not even aware of its existence. If not printed now, the Sarvadarsanasangraha would, in all probability, share the common fate of many other valuable relics of Sanskrit learning. To preserve the work from destruction I proposed to the Asiatic Society of Bengal to edit the work for them if they would undertake to print it. My offer was kindly accepted, and the work, under their auspices, is printed and published.

"When I first undertook to edit the work, I was under the impression that the task would be an easy one. There were two manuscripts in Calcutta, one in the Library of the Sanskrit College, and the other in that of the Asiatic Society. On first reading the book I thought that the former manuscript was sufficiently correct. But scrutinizing it with the care necessary for publication, I collated it with the copy in the Society's Library and found that without the aid of more manuscripts, the readings in several passages in which the two manuscripts differ, could not be reconciled. No other manuscripts were however procurable in Bengal; but by good fortune I procured three manuscripts from Benares. These were of essential service to me, and it was only after carefully collating them with the texts in Calcutta that I have been able to edit the work." ●

AA 16 AA
tulok

जितना तेजोमय था उनका व्यक्तित्व, जितना उत्तुंग था उनका स्वाभिमान, जितना कठोर था उनका आत्मानुशासन, उतना ही नरम था उनका हृदय – दया, करूणा एवं मनुष्यता के सागर थे वह। कलकत्ता आ जाने के बाद जब भी वह अपने गाँव वीरसिंहो लौटते थे तो पूरा गाँव घूम घूम कर एक एक परिवार का हाल समाचार लेते थे कि सब कुशल तो है, कोई भूखा तो नहीं, कोई बीमार तो नहीं। उनका अपना जीवन भी तो बहुत गरीबी में बीता था। शम्भुचन्द्र विद्यारत्न, विद्यासागर की जीवनी में वीरसिंहो गाँव में विद्यासागर के घर की गरीबी की चर्चा करने के बाद लिखते हैं:

"संस्कृत कॉलेज के छात्र ईश्वरचन्द्र को भी दारुण कठोर दरिद्रता को झेलना पड़ा था। बड़ाबाजार के दयेहाटा स्थित जगतदुर्लभ सिंह के मकान के निचले तल्ले का एक अंधेरा सीलन भरा कमरा। चारों तरफ खुला नाला रहने के कारण तेलचट्टे से घर भरा हुआ।"

ईश्वरचन्द्र के पिता रात के एक बजे काम से लौटते थे। अगर उस समय वह बत्ती जलते हुये और ईश्वर को सोते हुये पाते थे तो गुस्से से बहुत पिटाई करते थे। बाकी, सड़क की गैस–बत्ती की रौशनी में विद्यासागर की पढ़ाई की कहानी तो दुनिया जानती है।

इसलिये गरीबी, बदहाली, बीमारी आदि से ग्रसित इंसानों के प्रति उनकी करुणा बाँध तोड़कर बह निकलती थी। चरित्र का यह गुण भी एक दिन अपने भव्य सामाजिक रूप में निखर उठा।

'ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' ग्रंथ में जीवनीकार सुबल चन्द्र मित्र लिखते हैं : "सन 1866 में बारिश की कमी के कारण खाद्यान्न का बहुत अभाव हो गया। अगला वर्ष शुरु होते होते, देश में भयावह अकाल फैल गया। मई, जून और जुलाई के महीने में अकाल गंभीर रूप धारण कर लिया। पूरा ओड़िशा एवं बंगाल का दक्षिणी भाग इसके चपेट में आ गया। इन इलाकों में जनता को जो तकलीफें झेलनी पड़ी वह अवर्णनीय है। आज उनकी बदहाली के बारे में सोचते हुये भी रोंगटें खड़े हो जाते

हैं। वे नहीं जानते थे कि भूख कैसे मिटेगी। बिना सोचे कि आहारयोग्य है या नहीं, वे हर तरह के पत्ते, जंगली झाड़ों की जड़ें और लत्तरें खा रहे थे। एक मुट्ठी चावल की खोज में वे घर छोड़ कर सुदूर स्थानों की ओर भाग रहे थे। माँ अपने शिशु को त्याग रही थी, पिता अपने सन्तान को, बेटे अपने माँ–बाप को, पति पत्नी को और पत्नी पति को, भाई बहन को और बहन भाई को.... और सब भाग रहे थे शहर की ओर कि जलते पेट में डालने को कुछ मिलेगा। उनमें से कई कहीं पहुँच भी नहीं पाये। वे कंकालों में तब्दील हो चुके थे और थकान से, खाद्य के निरन्तर अभाव से और नतीजतन हो रहे अस्वस्थता से वे रास्तों के किनारे मरते हुये गिर रहे थे। देश की, उस समय की स्थिति विस्तृत रूप से वर्णन करने का अवसर इस पुस्तक में नहीं है। हम सिर्फ उस हिस्से का बयान करेंगे जिसके साथ हमारे कल्याणमय, वीर विद्यासागर जुड़े हुये थे।

"उस समय वह कलकत्ते में थे। उनके अपने ही गाँव में एवं आसपास में जो तीव्र अभाव भयानक रूप से फैल रहा था उसके बारे में उन्हे कोई सूचना नहीं थी। सबसे पहले हिन्दु पैट्रियट अखबार में उन्होने इस बारे में कुछ पत्र पढ़े और कुछ ही दिनों बाद उन्हे अपने घर से चिट्ठी मिली जिसमें यह खबर थी कि खाद्य के अभाव में लोग बड़ी संख्या में मर रहे हैं। सूचना प्राप्त होते ही, कोमल हृदय विद्यासागर को गहरा धक्का लगा एवं उनके आँसू बह निकले। उन्होने तत्काल सरकार को इस घातक आपदा के बारे में लिखा और अविलम्ब राहत के लिये अनुरोध किया। उनकी सुनकर सरकार ने तत्काल स्थिति का जायजा लिया। देश के विभिन्न हिस्सों में उन्होने भोजन–शिविर लगाये। लेकिन फौरी जरूरत के लिहाज से वे काफी कम थे। हिन्दु पैट्रियट के पत्रकार ने कहा कि बाबु हेम चन्द्र कर, गड़बेता के डिप्टी मजिस्ट्रेट तमाम कष्ट उठाते हुये खुद अपने प्रशासनाधीन सभी गाँवों का दौरा कर रहे थे एवं गरीब ग्रामवासियों के लिये राहत का इन्तजाम कर रहे थे लेकिन बाबु इशान चन्द्र मित्र, हुगली जिला के जहानाबाद सबडिविजन के डिप्टी मजिस्ट्रेट अपने काम को गंभीरता से नहीं ले रहे थे। यहाँ जिक्र करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि वीरसिंहो एवं आसपास के गाँव उस समय हुगली जिला में पड़ते थे जो बाद में, जॉर्ज कैम्पबेल के समय मिदनापुर जिले के अन्तर्गत लाये गये।

"विद्यासागर तब जल्दी से अपने गाँव पहुँचे और खुश हुये देख कर कि उनकी माँ ने भूखे लोगों को खाना खिलाना शुरु कर दिया है। उनकी माँ अपने हाथों से खाना बनाती थी एवं औसतन सौ लोगों को हर दिन भोजन कराती थी। जैसा बेटा, वैसी उसकी माँ। लेकिन विद्यासागर इससे सन्तुष्ट नहीं हुये। उन्होने अपने खर्च से वीरसिंहो एवं आसपास के गाँवों में भोजन–शिविर खोले। भूखे लोग बढ़ते ही जा रहे थे। एक सौ से बढ़कर अन्ततः एक हजार हो गये। जैसे जैसे संख्या बढ़ती गई, विद्यासागर अपना खर्च बढ़ाते जा रहे थे। तब उन्होने अपने तीसरे भाई, शम्भुचन्द्र को लिखा। शम्भुचन्द्र भोजन–शिविरों के प्रबन्धन के प्रभारी थे, विद्यासागर चाहते थे कि चाहे कितनी भी बड़ी रकम क्यों न हो, खर्च में कंजूसी न की जाय।"

आगे जीवनीकार लिखते हैं कि किस तरह, भूखे लोगों के अनुरोध पर विद्यासागर ने भोजन–शिविरों मे खिचड़ी की जगह भात और मछली की भी व्यवस्था की थी और किस तरह पहले ही दिन एक भयानक हादसा हुआ। एक भूखा आदमी बहुत दिनों के बाद अपने सामने गरम सूखा भात देख कर रह नहीं पाया। एक बड़ा सा निवाला अपने मुँह में ठूँस लिया और अन्ततः वह गले में फँस गया। वह आदमी वहीं दम घुँट कर मर गया और विद्यासागर उसका शव अपने गोद में लेकर फफक कर रोने लगे।

सिर्फ भोजन–शिविर ही नहीं, विद्यासागर हर तरह से राहत और सेवा में जुट गये। इसी सेवा के वर्णन में और आगे बढ़ने से पहले रोगियों के इलाज के मामले में उनकी स्वशिक्षा का जिक्र करना यहाँ प्रासंगिक होगा।

fpfdRlk – हम यहाँ मूख्यतः 'चिकित्सक विद्यासागर' शीर्षक एक लेख का सहारा लेंगे जिसे तड़ित कुमार बंदोपाध्याय ने लिखा था एवं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सौवीं मृत्युवार्षिकी के अवसर पर बंगीय साक्षरता प्रसार समिति द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'विद्यासागरेर विज्ञान मानस' में संकलित किया गया था। साथ ही, जरुरत पड़ी तो कुछ और स्रोतों का भी इस्तेमाल करेंगे।

पुराने अंधविश्वासों, टोटके–ताबीजों की बीमार आबोहवा को भेद कर आधुनिक वैज्ञानिक सोच की ओर कदम बढ़ाने वाले हर विवेकपूर्ण इंसान की तरह विद्यासागर को भी पहले होम्योपैथी या आयुर्वेद से चिढ़ थी। आज भी लोगों को होती है क्योंकि सर्वस्वीकृत, सर्वमान्य कोई प्रायोगिक व्यवस्था नहीं है देश में जहाँ विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों की एकरूप जाँच हो एवं जाँच का नतीजा सब की जानकारी में दी जाय। एक तरफ ऐलोपैथी एवं विदेशी दवा कम्पनियों का बोलबाला, मुनाफे के उद्येश्य से किया गया प्रचार तो दूसरी तरफ अवैज्ञानिक रहस्यपूर्ण जादुई रोग–निरामय के दावे। हर वो दवा या जड़ी अचानक 'वैज्ञानिक–तरीके–से–जाँचा–हुआ' बन जाती है जिस में किसी कम्पनी को मुनाफा दिखता है। कोई नहीं जानता है कि वह 'वैज्ञानिक–तरीका' क्या है।

विद्यासागर के समय स्थिति और बुरी थी। आज की तरह इतनी संख्या में कम्पनियाँ नहीं थी लेकिन दूसरी ओर 'आधुनिक' ऐलोपैथिक पद्धति की पढ़ाई कर अंग्रेजों की बराबरी का डाक्टर बनना, सर्जन बनना एक राष्ट्रीय भावना से पूर्ण उपलब्धि थी। दरअसल, सही तरीके से शरीरविज्ञान की पढ़ाई तो ऐलोपैथिक चिकित्सापद्धति की शिक्षा के साथ ही लोगों ने होते हुये देखा। आयुर्वेद वगैरह में तो वंशपरम्परा से लोग 'चिकित्सक' बन जाते थे। और, ऐलोपैथिक पद्धति से चिकित्सा के जो चमत्कारिक नतीजे थे, वो तो थे ही। खास कर महामारी मैलेरिया के इलाज के लिये दवा (कुइनाइन), सबसे अधिक लोगों को चपेट में लाने वाली पेट–सम्बन्धित बीमारियों (कॉलेरा सहित) की निश्चित दवायें एवं पथ्य, जटिल गर्भावस्था के लिये सिजैरियन, फॉर्सेप्स डेलिवरी एवं कई अन्य शल्य चिकित्सायें।

विद्यासागर के जीवनीकार बिहारीलाल सरकार कहते हैं, "पहले विद्यासागर इस इलाज [होम्योपैथिक] को बिल्कुल नापसन्द करते थे। वर्ष 1866 में, विख्यात होम्योपैथिक चिकित्सक बेरिनि [शायद बर्निनी होंगे], कलकत्ता आये एवं रोगियों का इलाज करना शुरू किया। कलकत्ते के बऊबाजार इलाके के निवासी डा० राजेन्द्रनाथ दत्ता से उनकी अच्छी मित्रता हो गई। राजेन्द्रबाबु ने पहले से थोड़ी बहुत होम्योपैथी सीख रखी थी। बेरिनि की सहायता से वह इस विद्या में दक्षता हासिल किये। वह

भी चिकित्सक के रूप में विख्यात हुये। राजेन्द्रबाबू ने विद्यासागर का सरदर्द होम्योपैथिक इलाज द्वारा ठीक कर दिया। राजेन्द्रबाबु द्वारा दिये गये होम्योपैथिक दवा से राजकृष्णबाबू कब्ज के अत्यधिक दर्द से छुटकारा पा गये। राजकृष्णबाबु को शौच के समय एनेमा लेनी पड़ती थी। एनेमा के इस्तेमाल पर सख्त मल अत्यधिक पीड़ा के साथ निकलता था और मलद्वार से निकलते खून से दोनों जांघ भीग जाता था। विद्यासागर महाशय अवाक हो गये कि इस तरह की बीमारी बस कुछ होम्योपैथिक दवा के बूंदों से ठीक हो गया। उसके बाद से वह विशेष तौर पर होम्योपैथिक इलाज की ओर ध्यान देने लगे।"

'चिकित्सक विद्यासागर' के लेखक तड़ित कुमार बंदोपाध्याय लिखते हैं, "हम महेन्द्रलाल सरकार के साथ विद्यासागर की मित्रता स्मरण कर सकते हैं। महेन्द्रलाल सरकार तत्कालीन कलकत्ता के जानेमाने चिकित्सक थे एवं विज्ञान आन्दोलन के महत्वपूर्ण मार्गनिर्माताओं में से एक थे। विद्यासागर ने ही डा० सरकार को होम्योपैथिक इलाज की ओर प्रेरित किया था। अपने चिकित्सक जीवन के पहले चरण में डा० सरकार अपने रोगियों का इलाज ऐलोपैथिक तरीके से करते थे और होम्योपैथिक इलाज को पूरी तरह से घृणा करते थे। अक्सर वह होम्योपैथिक इलाज की निंदा करते थे। एक दिन विद्यासागर महाशय एवं महेन्द्रबाबू उच्च न्यायालय के माननीय न्यायाधीश द्वारकानाथ मित्र को देखने गये जो अस्वस्थ चल रहे थे। वहाँ दोनो होम्योपैथिक इलाज को लेकर तीखे बहस में उलझ गये। अन्ततः, महेन्द्रबाबू विद्यासागर के तर्कों से हार माने और बोले, 'अब मैं होम्योपैथी की निन्दा नहीं करूंगा। लेकिन जाँच करुंगा कि इसके क्या क्या गुण हैं।' अपने जाँचों के उपरान्त वह होम्योपैथिक इलाज में ख्यातिप्राप्त हुये। उनके इलाज की ख्याति से डा० बेरिनि की रोगियों की संख्या घट गई, जबकि वह गोरा आदमी थे। लोग डा० सरकार को बुलाने लगे बेरिनि को नहीं। इस तरह, महेन्द्रलाल की होम्योपैथिक प्रैक्टिस ने डा० बेरिनि को यह देश छोड़ने को मजबूर कर दिया। सन 1869 में डा० राजेन्द्रनाथ डा० बेरिनि को विदा करने पहुँचे तो उन्होने कहा, 'इतने सारे गोरे लोग इस देश में आये और पाकेट में पैसा भर भर कर ले गये, और आप खाली पाकेट के साथ वापस जा रहे हैं।''

जबाब में डा० बेरिनि ने कहा, "मैं अपने साथ पाँच हजार रुपये ले कर जा रहा हूँ।''

राजेन्द्रबाबु ने आश्चर्य से पूछा, ''कैसे?''

डा० बेरिनि ''महेन्द्र होम्योपैथी के पक्ष में आ गया। इसकी कीमत है पाँच हजार रुपये।"

तो इस तरह विद्यासागर होम्योपैथी के प्रचार में लग गये। आगे चल कर उनकी छोटी बेटी, जो अत्यंत कष्ट में थी, होम्योपैथिक इलाज से आराम पाई। विद्यासागर इतने प्रभावित हुये कि अपने छोटे भाई को उन्होने होम्योपैथिक डाक्टर बनाया। होम्योपैथिक दवाओं के अद्भुत गुण से, सस्ती कीमतों से तथा लेने में आसानी के कारण काफी प्रभावित हुये। लेकिन, वह तो विद्यासागर थे। खुद उन्होने होम्योपैथी का अध्ययन करना शुरू किया। कलकत्ता के सुकिया स्ट्रीट में रहने वाले डाक्टर चन्द्रमोहन घोष से उन्होने पाठ लेना शुरू किया। असंख्य किताब खरीदे होम्योपैथी पर और चूँकि मानव शरीर के अध्ययन के बिना चिकित्सा विज्ञान की पढ़ाई अधूरी रहती है इसलिये उन्होने मानवकंकाल खरीद कर घर में रखे। मानव के शारीरिक ढाँचे का अध्ययन करने लगे। उनके पुस्तकालय में होम्योपैथी के पुस्तकों का संग्रह देखने लायक है। जार, राड्के, हेरिंग, हनिमैन। ये किताबें उस वक्त विदेश से मंगानी पड़ती थी। सीधा न्युयार्क या जर्मनी से वह किताबें मंगाते थे।

I:ok –पश्चिम बंगाल के प्रख्यात मुख्यमंत्री डा० विधान चन्द्र राय के नाम से एक कथन काफी प्रचलित है, 'ऐलोपैथी हो या होम्योपैथी, असली चीज है सिमपैथी' यानि हमदर्दी। आज कल तो यह आम जानकारी है कि अगर रोगी को हमदर्दी से भरा हुआ वातावरण मिलेगा तब उसका मनोबल ऊँचा होगा, उसकी जीने की इच्छा प्रबल होगी और तब दवायें भी बेहतर असर करेंगी। और विद्यासागर तो 'दया और करुणा के भी सागर थे। 'मनुष्यता के सागर' थे। विद्यासागर जहाँ भी जाते थे, साथ में होते थे होम्योपैथी की किताबें, इलाज की डायरी (जो अभी रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय के आर्काइव में संरक्षित है) एवं होम्योपैथिक दवाओं का बक्सा। असंख्य लोगों का वह इलाज किया करते थे और अच्छा इलाज करते थे। अन्य चिकित्सकों की तरह तो थे नहीं, कहीं भी

चले जाते थे किसी के बुलाने पर, रात रात भर रोगी के सिरहाने बैठ कर, माथे पर पानी की पट्टी देना, या पैर में तेल की मालिश कर देना... सब खुद करते थे और इस काम में न तो वह जाति का भेद करते थे और न धर्म का। हँफनी की खाँसी और पेचिस के दर्द की दवा वह खुद तैयार करते थे। सारी दवायें वह मुफ्त देते थे।

उनकी जनसेवा की ताकत एवं नजरिया खास कर उस वक्त देखने को मिला जब अकाल के समय दक्षिणी बंगाल में उन्होने दर्जनों भोजन व राहत शिविर चलवाये एवं अकाल के बाद मलेरिया के प्रकोप के दौरान बर्धमान जिला में मुफ्त चिकित्सालय व औषधालय चलवाये। जीवनीकार बिहारीलाल सरकार एक बार के वाकया का जिक्र करते हैं, " इस समय प्यारीचांदबाबू के भतीजा गंगानारायण मित्र महाशय विद्यासागर महाशय की काफी मदद करते थे। 'डिस्पेन्सरी' का पूरा जिम्मा उन्ही के उपर था। कुइनाइन बहुत कीमती दवा थी, जबकि मरीजों की तादाद हर दिन बढ़ रही थी। इसलिये गंगानारायणबाबू ने सुझाव दिया कि कुइनाइन के बदले 'सिंकोना' का इस्तेमाल किया जाय। विद्यासागर महाशय ने कहा, 'बीमारी गरीबों को हुई है तो सही दवा का इस्तेमाल नहीं होगा? ऐसा भी कभी होता है? गरीब, दुखी हो या धनी हो, प्राण तो एक ही है; बल्कि बीमारी भी एक ही है।' गंगा नारायणबाबू विद्यासागर की महानता से अभिभूत हो गये। उस समय जो रोगी दवा लेने के लिये 'डिस्पेन्सरी' नहीं आ पाता था, विद्यासागर महाशय खुद उनके घरों पर जा कर खुद दवा एवं पथ्य दे आते थे।"

बाद के वर्षों में, जब वह कर्माटाँड़ में रहने लगे, संस्कृत कॉलेज के भूतपूर्व प्राचार्य महामहोपाध्याय नीलमणि न्यायालंकार महाशय एक बार उनके अतिथि बने। वहाँ रहते न्यायालंकार बीमार पड़े तो विद्यासागर ने अपने हाथों से उनका मलमूत्र साफ किया। वर्धमान में, जब विद्यासागर मलेरिया के मरीजों को दवा एवं पथ्य दिया करते थे एक मेहतर औरत बीमार पड़ी। उसे देखने को कोई नहीं था तो विद्यासागर ने ही उसकी सेवा की। कर्माटाँड़ में एक संथाल पीड़ा में था। विद्यासागर खुद उसके सिरहाने बैठ कर उसे दवा पिलाते रहे, पथ्य खिलाते रहे, खुद पकड़ कर मलमुत्र त्याग के लिये ले जाना, पूरे बदन को सहलाना... सब कुछ

करते रहे। बौद्धशास्त्रों के विद्वान महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री एक बार कर्माटाँड़ गये थे लखनऊ जाने के समय। उन्होने संस्मरण में लिखा है कि भरी दोपहर में वह विद्यासागर को खेत की मेड़ पर दूर के गाँव से आते हुये देखते थे – एक हाथ में दवा का बक्सा तथा दूसरे हाथ में दवा का कटोरा होता था। कर्माटाँड़ से ही एक बार राजनारायण बसु को विद्यासागर ने पत्र लिखा, "मैंने तय किया था कि कल या परसों आपको देखने जाउंगा, लेकिन यहाँ मैं दो मरीजों का देखभाल कर रहा हूँ। वे ऐसी स्थिति में हैं कि मुझे उन्हे छोड़ कर नहीं जाना चाहिये। इसलिये मैं देवघर जाना दो या तीन दिनों के लिये स्थगित कर रहा हूँ।"

अकाल और महामारी से ग्रस्त बंगाल को ऐसा आदमी कहाँ से मिलता जो अपने खर्च से दवा, पथ्य, भोजन की व्यवस्था करे, सेवा करे, आर्थिक मदद दे, अपने इलाज पर भरोसा न हो तो कलकत्ता से अन्य चिकित्सकों को मित्रता के बुलावे पर खींच कर ले जाय दूरदराज के गाँवों में ; उनसे इलाज कराये – (इसके साक्ष्य उन चिकित्सकों के संस्मरणों में मौजूद हैं)। बर्धमान डिविजन के कमिशनर का एक पत्र इतिहास में दर्ज है :–

सेवा में,

पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर,

वीरसिंहो

महाशय,

बंगाल सरकार के सचिव ने मुझे इसी महीने के 20 तारीख के आदेश के द्वारा निर्देशित किया है कि मैं, हाल के दिनों में हुगली जिले में पड़े अकाल में गरीबों को राहत पहुँचाने के लिये आपने जो उदार सेवायें दी उसके लिये सरकार की गर्मजोश स्वीकृति आपको प्रदान करूँ। भवदीय,

आपके विश्वस्त सेवक,
(ह०) सी० टी० मॉन्ट्रिसर
कमीशनर, बर्धमान डिविजन

●

AA 17 AA
oKkfud o rdi.k lkp

विद्यासागर सामान्य अर्थों में दार्शनिक या चिन्तक नहीं थे। जूझे गये सामाजिक संघर्षों के लिये आवश्यक युक्तियों और तर्कों के अलावा उन्होने वैचारिक बातें नहीं के बराबर की। चाहे किसी विद्वान आदमी के साथ हों या अनपढ़ के साथ, वह या तो काम की बात करते थे या नहीं तो निर्मल हास्यविनोद की बातें।

रामकृष्ण परमहंस के दैनिक जीवनचर्या (जिसे भक्तलोग लीला कहते हैं) के कुछ प्रसंगों पर आधारित सुविख्यात पुस्तक 'रामकृष्ण कथामृत' में रामकृष्ण परमहंस का विद्यासागर के साथ मुलाकात का प्रसंग है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के यह कहने पर कि 'आज सागर के पास आया हूँ। अब तक तो नहर, झील और नदियों के पास गया था। अब सागर को देख रहा हूँ।' विद्यासागर ने कहा, "अब आये हैं तो थोड़ा नमकीन पानी ले जाइए।"

कभी कभी उस हास्य में तीव्र श्लेष हुआ करता था। कहा जाता है कि जब विधवाविवाह के सवाल पर आन्दोलन का नेतृत्व देने के कारण वह कर्ज में डूब रहे थे (यहाँ तक कि सरकारी नौकरी त्याग देने के बरसों बाद उन्हे दोबारा सरकारी नौकरी के लिये व्यक्तिगत अनुरोध करना पड़ा था, जो संयोगवश हो नहीं पाया), एवं उन पर जानलेवा हमले भी हो रहे थे, तब, उसी दौरान एक विधवाविवाह के आयोजन में पहुँचे विद्यासागर। आगे का वाकया जीवनीकार इन्द्र मित्र रचित 'करुणासागर विद्यासागर' से उद्धृत हैः

"एक विधवाविवाह के निमंत्रण में गये हैं विद्यासागर। वहीं एक मित्र की बेटी, सात–आठ साल की एक लड़की ने आकर उन्हे प्रणाम किया।

"विद्यासागर ने कहा – जीती रहो माँ। विवाह हो, विधवा होवो, मैं फिर तुम्हारा विवाह रचवाऊँ।

"उपस्थित सभी खुल के हँस पड़े।

"विद्यासागर हँसते हँसते बोले – अरे, मेरे मित्रों की कन्यायें विधवा न होने पर मैं विवाह किसका करावाउंगा?"

पुलिस के एक अधिकारी व्यक्तिगत समस्या से घिर कर उनसे कुछ रुपये कर्ज में लिये थे। घर में रुपये न होने के बावजूद उन्होने रुपये जुगाड़ कर दिये। बाद में, जब वह अधिकारी रुपये लौटाने के लिये पहुँचे तो विद्यासागर नकली क्षुब्ध भाव चेहरे पर लाकर बोले, "तुम मेरे साथ इतना बड़ा अन्याय कर सके? तुम तो पुलिस के आदमी हो!" उस अधिकारी को भौंचक देख कर विद्यासागर ने कहा, "आज तक तो कोई मेरा दिया हुआ कर्ज वापस करने आया नहीं! मैं तो समझता था कि यही न्याय है!"

अगर किसी ने कहा कि विद्यासागर, अमुक आपकी निन्दा में यह यह बोल रहा था, तो विद्यासागर कहते थे, "जरा याद करने दो कि मैंने उसका कब क्या उपकार किया था।"

साहित्य में भी, तार्किक विचारों या सैद्धान्तिक प्रसंगों से बाहर उनकी भाषा हास्यमय होती थी। खास कर यह भाव उन पुस्तकों में दिखता है जो, विधवाविवाह के पक्ष में या बहुविवाह के खिलाफ आवाज उठाने के कारण, उन पर पंडितों द्वारा हो रहे गुमनाम आक्रमण के खिलाफ लिखे गये थे।

रवीन्द्रोत्तर काल के प्रसिद्ध लेखक प्रमथनाथ बिशी लिखते हैं, "ईश्वरचन्द्र सिर्फ विद्यासागर या करूणासागर नहीं, रससागर भी थे। बंगाल के सर्वश्रेष्ठ wit थे वे एवं polemic की रचना के वह राजा थे यह बात तो शायद आज कोई अस्वीकार नहीं करेगा।"

खैर, हम विषय पर आयें। एक पारिभाषिक शब्द के रूप में 'वैज्ञानिक' या 'तर्कपूर्ण' सोच आधुनिक काल की उत्पत्ति है। लेकिन जीवन के विकास के चरणों के अनुरूप, सोच व काम में 'वैज्ञानिकता' एवं 'तर्कपूर्णता' मानवसभ्यता के साथ साथ आगे बढ़ी है। प्रौद्योगिकी का ज्ञान भी उसी तरह आगे बढ़ा है। किसी भी नया काम के बारे में सोचते हुये व्यक्तिमानव को सामान्यतः दो पहलुओं पर पुरानी सोच को अस्वीकार करना पड़ा होगा, (1) बाधक रूढ़ियों व रिवाजें और (2) यथास्थिति की शाश्वतता एवं नियति या भाग्य। साथ ही, एक पहलू पर नये सोचों की

एक प्रवृत्ति को भी अस्वीकार करना पड़ा होगा– (3) उपरोक्त दोनों के विरोध में उच्छृंखलता या उच्छृंखल वैचारिक प्रहार।

विज्ञान में जो तीव्र विकास हुये आधुनिक काल में, उसके कारण यह पृथ्वी, उस पर जीवन एवं वस्तुजगत काफी दूर तक नजर आने लगा और हम वैज्ञानिक सोच की बात करने लगे। लेकिन उसके मूल तत्व आज भी उपरोक्त ही हैं। बस नई भाषा में हम कुछ आधुनिक सकारात्मक जीवनमूल्यों को गिनाते हैं और साथ ही जोड़ते हैं तमाम अंधविश्वासों, कूप्रथाओं, रूढ़िवाद का विरोध, जीवन को बेहतरी की ओर ले जाने में सामूहिक सहकार्य एवं अतिवाद या उग्रवाद का विरोध आदि आदि।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण सोच तो सबसे पहले इसी में दिखाई पड़ती है कि मातृभाषा में आधुनिक ज्ञान–आधारित शिक्षा एवं नारीशिक्षा को उन्होने अपने जीवन का प्रथम ध्येय बनाया। शिक्षण में सुधार हेतु लगातार संघर्ष करते रहे – पाठ्यक्रम में सुधार, पाठ्यपुस्तकों में सुधार, गाँव–गाँव में आधुनिक विद्यालय का प्रसार, उन विद्यालयों के लिये प्रशिक्षित शिक्षक की व्यवस्था, शिक्षकों के बेहतर वेतन एवं छात्रों को पाठसामग्री हेतु अधिक राशि के अनुदान की स्वीकृति। लेकिन साथ ही, जब श्रीमती कार्पेन्टर के एवं ब्राह्मो समाज के कहने पर शिक्षिकाओं के लिये नॉर्मल स्कुल की व्यवस्था, बिना सामाजिक ताकतों की सहमति प्राप्त किये होने लगी, उन्होंने तत्काल विरोध किया और कहा कि यह व्यवस्था असफल होगी। हुआ भी यही, तीन साल के अन्दर वह स्कूल बन्द हो गया। सिर्फ यही नहीं, जब संस्कृत कालेज में विद्यासागर नया रास्ता निकालने के लिये शास्त्रों का अध्ययन कर रहे थे और शास्त्रज्ञों तथा सामाजिक नेताओं से लोहा ले रहे थे, दीवार के उस पार हिन्दु कालेज के छात्र एवं डिरोजिओ के क्लासों की प्रेरणा से लैस भूतपूर्व छात्र पुराने हिन्दु रीति–रिवाजों की ऐसी की तैसी कर रहे थे। उन से विद्यासागर की अच्छी मित्रता थी। बांग्ला के महाकवि माइकल मधुसूदन दत्त को जिस तरह से उन्होने मदद किया एवं जीवन बचाया वह आज एक दंतकथा है। लेकिन उस उच्छृंखलता के नक्शेकदम पर विद्यासागर चले ही नहीं।

बांग्लादेश के विख्यात विद्वान अहमद शरीफ कहते हैं, " दरअसल हिन्दू कॉलेज में शिक्षाप्राप्त यंग बंगाल ने ही अशिक्षा, बालविवाह, बहुविवाह, एवं विधवाविवाह के मुद्दों पर मौखिक तथा लिखित चर्चा के माध्यम से आन्दोलन का प्रारंभ किया। लेकिन उनके लिये ये बातें सुरुचि व संस्कृति से सम्बन्धित समस्याओं की तरह राष्ट्रीय शर्म जैसी थीं। यंग बंगाल के ये शौकीन द्रोही हिन्दू व हिन्दू चालचलन के सभी बातों की निन्दा करते थे और उपरोक्त मुद्दे भी उन्ही के अन्तर्गत थे। ये लोग चालीस की उम्र पार कर जाने के बाद खुद कट्टर हिन्दू बन गये या निष्ठावान ब्राह्म बन गये और उसी में तुष्ट रहे। बल्कि शायद पहली जवानी के उद्धत आचरणों के लिये लज्जित एवं अनुतापग्रस्त भी हुये थे। फलस्वरूप, जो विद्यासागर के लिये उनके खुद के अस्तित्व जैसा ही सत्य था, डिरोजिओ की दीक्षा से गुजरे यंग बेंगॉल के लिये वह उम्र के तकाजे से जन्मा शौकीन सांस्कृतिक तेवर था। वे विद्वान थे, बुद्धिमान थे, उनमें से कई विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता एवं लेखक भी थे, लेकिन विद्रोही नहीं रहे। मानवतावादी विद्यासागर मानव के कल्याण में, 'जरूरत पड़ने पर प्राण त्याग में भी पीछे हटने वाले नहीं' थे। इसी लिये विद्यासागर श्रेष्ठ, महान एवं अनन्य थे।''

सन 1853 में बैलेन्टाइन साहब के एक पत्र के जबाब में उन्होने लिखा, "जनता में शिक्षा का प्रसार–यह हमारी मुख्य आवश्यकता है। हमें कुछ बंगला विद्यालय स्थापित करने होंगे। इन सब विद्यालयों के लिये आवश्यक एवं शिक्षाप्रद विषयों पर कुछ पाठ्यपुस्तकों की रचना करनी होगी, शिक्षकों का दायित्वपूर्ण कर्तव्य का भार ले सके ऐसे कार्यकर्ताओं के एक दल का सृजन करना होगा – तभी हमारा उद्येश्य सफल होगा। मातृभाषा की पूरी जानकारी, तथ्यों का यथेष्ट ज्ञान, देश में व्याप्त अंधविश्वासों के कब्जे से मुक्ति – शिक्षकों में ये गुण रहने चाहिये। इस तरह के आवश्यक आदमियों का निर्माण ही मेरा उद्येश्य एवं संकल्प है।"

उसी तरह, उनकी वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण सोच विधवाविवाह जैसे समाजसुधार के कामों को आगे बढ़ाने के तरीके में भी दिखाई पड़ती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि खुद जातिगत भेदभाव की भावना से ग्रसित न होकर भी उन्होने यह कह कर शुरुआत नहीं की कि जब 74%

को विधवाविवाह से कोई समस्या नहीं तो 26% को क्यों? जातिप्रथा के अन्तर्गत पूरे समाज पर ब्राह्मणवाद के सांस्कृतिक वर्चस्व को वह जानते थे। इसीलिये सबसे पहले उस सांस्कृतिक वर्चस्व का प्रमुख हथियार, शास्त्रों का ही उन्होने अध्ययन किया एवं उसी का इस्तेमाल भी किया गिद्ध बने बैठे ढोंगी शास्त्रज्ञों के खिलाफ। फिर उन्होने समर्थन में खास कर वैसे लोगों को जुटाया जो नामचीन और पैसे वाले होने के कारण सरकार को प्रभावित करने की क्षमता रखते थे। फिर उन्होने सरकार को आवेदन किया। आवेदन की भाषा भी पूरी तरह कार्यनीतिक थी, भावनात्मक नहीं। उसके आगे उन्होने एक तरफ वो मुहिम चलाया जिसे आज की भाषा में हम हस्ताक्षर अभियान कहते हैं। दूसरी तरफ अपनी कलम से वह लगातार उन कुतर्कों और व्यक्तिगत लांछनाओं का जबाब देते रहे जो उन्हे रोकने के लिये बरसाये जा रहे थे। आज भी एक व्यक्ति नागरिक, खास कर बुद्धिजीवी के लिये किसी सामाजिक–सांस्कृतिक मुद्दे पर लड़ने, आवाज को आगे बढ़ाने का यह तरीका उतना ही प्रासंगिक और शिक्षणीय है, जितना कल था। आज तो कई संगठन हैं, मंच हैं, उन्नीसवीं सदी के मध्य में तो कुछ भी नहीं था।

पिछले अध्याय में तड़ित कुमार बंदोपाध्याय द्वारा लिखित 'चिकित्सक विद्यासागर' शीर्षक लेख लेखक के जिस पुस्तक से लिया गया था, उसी पुस्तक, 'विद्यासागरेर विज्ञानमानस' के एक और लेख की हम मदद लेंगे। लेख का शीर्षक है 'विज्ञानमनस्कतार अनुशीलने विद्यासागर' (वैज्ञानिक सोच के अभ्यास में विद्यासागर) इस लेख में लेखक ने प्रख्यात वैज्ञानिक–चिंतक जूलियन हक्सले के विचारों को उद्धृत किया हैं:

"The conflict between science and human nature can only be reconciled in an attitude and a temper of mind which may fittingly be called scientific humanism."

आगे लेखक वैज्ञानिक मानवतावाद के गिनाये गये कई विशेषताओं में से दस विशेषताओं को चुनते हैं, एवं उन दस विशेषताओं की कसौटी पर विद्यासागर के कर्मजीवन एवं चरित्र की व्याख्या भी करते हैं। आईये, हम भी उन्हीं दस विशेषताओं की कसौटी पर विद्यासागर की सोच को परखे।

lLdkjk l eä pruk& जब आज भी जातिगत, धार्मिक एवं लैंगिक भेदभाव इतना अधिक व्याप्त है कि संस्कारमुक्त चेतना की पहली शर्त होती है उनसे मुक्त होना, तो उस समय क्या स्थिति रही होगी यह सोचा जा सकता है। जबकि, विद्यासागर का पूरा जीवन ही संस्कारमुक्त चेतना का उदाहरण है। धर्म एवं जाति पर आधारित भेदभाव को वह कभी भी नहीं माने। मुसलमान का घर हो या चमार का घर हो, उन्हे देखभाल, सेवा, दवा–भोजन आदि की जरूरत हो तो विद्यासागर बेझिझक उनके यहाँ पहुँच जाते थे और अपने हाथों से उनकी सेवा करते थे। उन परिवारों के बच्चे विद्यासागर के गोद में खेलते रहते थे। व्यक्तिगत बातचीत में विद्यासागर कहते थे कि कोई अगर उन्हे ब्राह्मण पंडित समझता है तो उन्हे अत्यंत अपमान का बोध होता है। नारीशिक्षा एवं नारीजीवनस्थिति में सुधार के कामों को वह बिल्कुल आधुनिक सन्दर्भों में, स्त्री–पुरुष बराबरी तक पहुँचने के चरणों के रूप में देखते थे। पूरी उन्नीसवीं सदी के भारत में नारीमुक्ति के पुरोधा व्यक्तित्वों में बंगाल के दो नाम सबसे अधिक जाने जाते हैं, राममोहन राय एवं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

वह संस्कृत शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान थे। उनके ज्ञान का लोहा उनके शिक्षक मानते थे। संस्कृत कॉलेज के लिये नये पाठ्यक्रम के निर्माण के समय उन्होने अंग्रेजी भाषा, आधुनिक विज्ञान एवं मातृभाषा के साथ साथ प्राचीन भारतीय ज्ञान के पठन को भी अहमियत दिया था। लेकिन, उस ज्ञान को लेकर कोई अंधश्रद्धा नहीं थी उनमें। सन 1853 में, उनके पाठ्यक्रम सम्बन्धी प्रस्तावों में कुछ रद्दोबदल कर अंग्रेज सरकार के प्रतिनिधि बैलेन्टाइन साहब ने उन्हे वापस भेज दिया। उस रद्दोबदल को मानने से इन्कार करते हुये विद्यासागर ने 'काउन्सिल ऑफ एडुकेशन' को जो पत्र लिखा, उसमें उन्होने कहा, "यह अब विवाद का मुद्दा नहीं है कि वेदान्त एवं सांख्य, दर्शन की भ्रामक प्रणालियाँ हैं।"

बाद में, रवीन्द्रोत्तर युग के प्रख्यात बंगला साहित्यकार प्रमथनाथ बिशी ने कहा, "मुझे तो लगता है कि खुलेआम वेदान्त को भ्रांत दर्शन घोषित करना ही दुःसाहसी विद्यासागर का सबसे दुःसाहसिक कार्य है। इसकी तुलना में विधवाविवाह का समर्थन या बहुविवाह का विरोध आदि

तो बच्चों का खेल है! उस एक वक्तव्य के द्वारा उन्होने भारत के, युगों से संचित संस्कार एवं अहंकार की जड़ पर चोट किया है।"

jk"Vh; rk dk ck/k & राष्ट्रीयता का बोध विद्यासागर में कितना था वह तो उसी वाकया से पता चल जाता है जिसका जिक्र इस पुस्तक के प्रारंभ में किया गया है। अंग्रेज साहब के जूता समेत पैर टेबुल पर रख कर विद्यासागर से बात करने के जबाब में विद्यासागर का भी टेबुल पर चप्पल समेत पैर रख कर अंग्रेज साहब से बात करना। चाहे हैलिडे साहब का व्यक्तिगत निमंत्रण हो या एशियाटिक सोसायटी का संस्थागत निमंत्रण – वह अपना धोती, चादर और चप्पल नहीं छोड़े। जब 'एशियाटिक सोसायटी' ने उनके लिये नियमों में छूट दिया तब भी नहीं। उन्होने साफ कहा कि सिर्फ मेरे लिये नहीं सबके लिये नियम बदलना पड़ेगा आपको। नियम नहीं बदला तो फिर कभी गये ही नहीं 'एशियाटिक सोसायटी' के ग्रंथागार में। जबकि एशियाटिक सोसाइटी के साथ काम का महत्वपूर्ण रिश्ता बना रहा।

हालाँकि हैलिडे के व्यक्तिगत निमंत्रण पर एवं उनके अनुरोध पर, जैसा कि विद्यासागर के जीवनीकार इन्द्र मित्र कहते हैं, विद्यासागर दो–एक बार पैंट, चोगा, पगड़ी वगैरह पहन कर गये थे। लेकिन उन्हे यह सब पहन कर स्वांग जैसा लगता था, लगता था कि वह चोरी किये हुये हैं। लोगों की नजरें बचा कर जाते थे। एक दिन हैलिडे को उन्होने कहा कि यही आपसे मेरी आखिरी भेँट है। हैलिडे के पूछने पर विद्यासागर बोले कि इन कपड़ों को पहनना उनके लिये असंभव है। तब हैलिडे बोले कि ठीक है, जो कपड़े आपको पसन्द हों उन्हीं कपड़ों में आइयेगा।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा, "जिन चप्पलों में, मोटे कपड़ों की धोती और चादर में ब्राह्मणपंडित को हर जगह सम्मान मिलता है, विद्यासागर राजा के दरवाजे पर भी उन्हे त्यागने की जरूरत नहीं महसूस किये। हमारे इस अपमानित देश में ईश्वरचन्द्र जैसे अखंड पौरुष के आदर्श का कैसे जन्म हुआ, हम बताने में अक्षम हैं।"

इस बोध में एक और बात भी है। राष्ट्रीयता का बोध तो पारम्परिक हिन्दु या मुसलमान पोशाक में भी उजागर हो सकता था– जैसा राजा या जमीन्दार लोग पहनते थे। लेकिन विद्यासागर के लिये jk"Vh; rk dk ck/k n'k dh xjhch vkj cngkyh d çfr tkx#drk

dh vfHk0;fä थीA इसीलिये उन्होने उस पोशाक को बनाये रखा – अपनी जनता से जुड़े रहने के लिये। यही सोच 70–75 साल के बाद महात्मा गांधी में हमने देखा।

उनके शिक्षादर्शन में राष्ट्रीयता की चेतना को उजागर करते हुये बी० आर० पुरकाइत ने अपने पुस्तक 'इन्डियन रेनेशाँ ऐन्ड एडुकेशन' में जो लिखा है, उसकी चर्चा पूर्व के एक अध्याय में हो चुकी है।

उन्हीं के बनाये पाठ्यक्रमों के अनुसार पढ़ाई कर, उन्ही के लिखे प्राईमर व कई पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन कर, उन्ही के द्वारा स्थापित विद्यालयों के छात्र व छात्रायें बन कर बंगाल की अगली पीढ़ी ने स्वदेशी आन्दोलन सहित भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव रखी। यह सही है कि भारत में अंग्रेजी राज के बारे में अलग से उन्होने अपने विचार नहीं रखे। लेकिन वह क्या सोचते थे इसकी ओर समाजवैज्ञानिक अशोक सेन ने अपने ग्रंथ 'विद्यासागर ऐंड हिज इल्युसिव माइलस्टोन' में पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। और इसकी चर्चा तड़ितबाबु अपने पुस्तक 'विद्यासागरेर विज्ञानमानस' में करते हैं:

"पलाशी के युद्ध का वर्णन करते हुये 'बंगाल का इतिहास' (विद्यासागर रचित), में विद्यासागर लिखते हैं, 'अगर मीरजाफर विश्वासघाती नहीं होते और ऐसे वक्त में इस किस्म का धोखा नहीं देते तो क्लाइव (लॉर्ड क्लाइव), के विजयी होने की कोई सम्भावना नहीं होती।' फिर महाराजा नन्दकुमार, की फाँसी की घटना की चर्चा करते हुये लिखते हैं, 'सही है कि नन्दकुमार दुराचारी थे, लेकिन निःसन्देह, इम्पी एवं हेस्टिंग्स इससे अधिक दुराचारी थे।'"

एक वाकया तो हिन्दी के पाठक भली भाँति जानते हैं। दीनबंधु मित्र रचित 'नीलदर्पण' नाटक का मंचन चल रहा था। विद्यासागर पहुँचे नाटक देखने। नाटक में किसानों पर अंग्रेज साहब का अत्याचार देख कर वह इतने विचलित हुये कि अपने पैर का चप्पल खोलकर मंच पर खड़े अंग्रेज की भूमिका में अभिनय करने वाले अभिनेता को फेंक कर मारे। (यह अलग प्रसंग है कि बंगाली नाट्यमंच के उस प्रख्यात अभिनेता ने उस चप्पल को माथे पर उठा लिया और कहा कि यह उनके अभिनय जीवन का श्रेष्ठतम पुरस्कार है)। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह घटना काल्पनिक है एवं विद्यासागर को लेकर प्रचलित कई दन्तकथाओं

में से एक है। लेकिन चूंकि किसान पर अत्याचार को देखकर भावनात्मक अतिरेक में जाना विद्यासागर के चरित्र में स्वाभाविक था, हम इस घटना को सत्य के रूप में स्वीकारते हैं।

सन् 1872 में हितकारी उद्येश्य से 'हिन्दु फैमिली ऐनुइटी फन्ड' की स्थापना की गई थी। विद्यासागर इस योजना की स्थापना काल से ही घनिष्ठ तौर पर इसे विकसित करने के काम में शरीक थे। लेकिन बाद में इस फन्ड को चलानेवालों ने फन्ड के प्रबन्धन में जो अनियमिततायें कीं एवं फन्ड के नियमों का जो उल्लंघन किया उस कारण विद्यासागर ने सन 1876 में फन्ड से अपना सारा सम्बन्ध तोड़ लिया। इस्तीफे का कारण पूछे जाने पर जो पत्र उन्होने भेजा उस पत्र के अंत में लिखाः

þtk 0;fä ftl ns'k esa tUe ysrk g] ml ns'k dk fgr lk/kus ds fy;s viuas lk/; ds vuqlkj ç;kl vkSj ;ru djuk mldk ije /keZ ,oa thou dk ç/kkure deZ gksrk gSAß

çfroknh lksp&प्रतिवादी सोच का सबसे बड़ा उदाहरण है सरकारी नौकरी से इस्तीफा। संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य के पद से, परीक्षा के परिषद से एवं विद्यालयों के इन्स्पेक्टरी से इस्तीफा। वह भी सिर्फ इस कारण से कि अंग्रेज सरकार ने 1857 के विद्रोह के दमन के बाद शिक्षा पर खर्च कम कर दिया था फलस्वरूप विद्यासागर को उनकी अपनी दृष्टि के अनुसार, शिक्षा के विस्तार की संभावना अब इस सरकार के आचरण में नहीं दिख रही थी। उनके साथ जिस अंग्रेज अधिकारी के अच्छे सम्बन्ध थे वह जानते थे कि विद्यासागर अपने फैसले से डिगेंगे नहीं, तो उन्होने थोड़े दिन और रुक जाने को कहा ताकि पेंशन की योग्यता की अवधि पूरी हो जाय। पर विद्यासागर ने वह भी नहीं माना, और पेंशन त्याग दिया।

उनका यह तेवर आजीवन बना रहा। इसके पहले हमने जिक्र किया कि किस तरह उन्होंने एशियाटिक सोसायटी के तथाकथित 'ड्रेस कोड' का प्रतिवाद किया था। संस्कृत कॉलेज में उनकी पहली नियुक्ति के बाद जो उन्होने पहली बार शिक्षण–पद्धति व पाठ्यक्रम में सुधार के प्रस्ताव दिये थे उसे कॉलेज के तत्कालीन सचिव रसमय दत्ता ने अस्वीकार कर दिया था। कहा जाता है कि विद्यासागर का पदत्याग पत्र

प्राप्त करने के बाद रसमय दत्ता ने सामने वाले से पूछा था, "इस्तीफा देगा तो वह खायेगा क्या?" दूसरों से यह सवाल सुन कर विद्यासागर ने जबाब दिया था, "रसमय दत्त को बोलना कि विद्यासागर बाजार में आलू–परवल बेच कर रोजगार करेगा, पर अपनी राय बेच कर नौकरी नहीं करेगा।"

यह भी ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक बुराईयों के प्रतिवाद से अलग ये व्यक्तिगत प्रतिवाद भी व्यक्तिगत हित के लिये नहीं बल्कि देशहित में हुआ करते थे।

vk/kqfudrk & क्या विद्यासागर आधुनिक थे ? क्या धोती, चादर, चप्पल पहने संस्कृत का विद्वान यह ब्राह्मण आधुनिक कहलायेगा? आधुनिकता पर लगातार बात करते रहने के कारण अक्सर हम इसे देश–काल निरपेक्ष एक व्ययक्तिक एवं सामाजिक विशेषता के रूप में देखना शुरु कर देते हैं। जबकि यह देश और काल दोनों के सापेक्ष है। जब हम आधुनिकता की बात करें तो भारत एवं बंगाल के उन्नीसवीं सदी के विकासक्रमों के सन्दर्भों में करें।

उन्नीसवीं सदी के चौथे, पाँचवें दशक के कलकत्ता में किसी निम्नमध्यवर्गीय पढ़े लिखे ब्राह्मण युवा के लिये आधुनिक होने का अर्थ था कई सारी चुनौतियों को चिन्हित करना एवं स्वीकारना। एक तरफ उसे अंग्रेजों के आगमन के 'मुक्तिदायी प्रभावों' को आत्मसात करना था एवं उसकी बौद्धिक ताकत से परम्परा के 'बाधक प्रभावों' को चिन्हित कर एवं तोड़ कर बाहर निकलना था। दूसरी ओर इसी प्रक्रिया के अगले पल में उसे अंग्रेजी शासन के 'बाधक प्रभावों' का सामना करने के लिये परम्परा की ताकत का इस्तेमाल करना था। विद्यासागर के समकालीन बौद्धिक समाज के सभी व्यक्ति कमोबेश इस प्रक्रिया से गुजरे। पूरा यूरोपीय बनना चाहने वाले माइकल मधुसूदन दत्त भी बंगाल और बांग्ला भाषा की ओर लौट आये। विद्यासागर उन सभी में एक सर्वाधिक अनुकरणीय आदर्श के रूप में उभरे क्योंकि सबसे बेहतर ढंग से उन्होने इस प्रक्रिया से गुजरने का रास्ता बताया। अंग्रेजों के आगमन के कितने प्रभावों को 'मुक्तिदायी' समझें एवं उसकी ताकत को कैसे आत्मसात करें। परम्परा के 'बाधक प्रभाव' किन्हे मानें एवं उनको तोड़ कर कैसे बाहर निकलें। फिर अंग्रेज शासन के बाधक प्रभावों का सामना करने के लिये

परम्परा की ताकत का कैसे इस्तेमाल करें। माइकल मधुसूदन दत्त ने खुद विद्यासागर के बारे में कहा था, " फर्स्ट मैन एमांग अस" (हम सबों में पहला आदमी)।

अभी यह चेतना अंग्रेजी शासन को गुलामी मानने को तैयार नहीं हो पाई थी। क्योंकि, अन्ततः यह शहरी मध्यवर्ग की चेतना थी। हाँ इसी मध्यवर्गीय चेतना में विद्यासागर की धारा जनता के कल्याण के बारे में सबसे आगे बढ़कर सोचने वाली एवं काम करने वाली थी।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा......"विद्यासागर की आधुनिकता की सिर्फ यही पहचान नहीं है कि उन्होंने कुरीतियों के किले पर हमला किया। वह खुद संस्कृतशास्त्र के विशेषज्ञ थे फिर भी वही मुख्यतः वर्तमान यूरोपीय विद्या की ओर छात्रों को आगे बढ़ाने का बीड़ा उठाये थे, और अपने उत्साह एवं प्रयास से पाश्चात्यविद्या का आहरण किये थे... विद्यासागर महाशय की आधुनिकता के इस गौरव को स्वीकारना होगा। वह नवीन थे एवं हमेशा नवीन रहने वाले के नाम से हुआ उनका अभिषेक उन्हे ताकतवर बनाया था। उनकी यह नवीनता ही मेरे लिये सर्वाधिक पूजनीय हैं। "

rd'okn & तर्कवाद या तार्किक विचार पद्धति आधुनिकता का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। कोई जरूरी नहीं कि हर आदमी हर विषय को हमेशा तर्क के द्वारा सिद्ध कर पाये या न्यायसंगत, युक्तिसंगत ठहरा सके। न सभी व्यक्ति एक ही उँचाई के ज्ञानी होते हैं और न ही बराबर के हुनर वाले तर्कविद्या के शिल्पी। बड़ा से बड़ा वकील भी क्रॉस एक्जामिनेशन में चूक सकता है क्योंकि वह एक अन्तर्भेदी कला है। लेकिन, अगर कोई, किसी भी बात को बिना पूछे, बिना तहकीकात किये, बिना तर्क किये मानने से इन्कार करे, अगर हर तरफ उसकी पहली दृष्टि सन्देह की हो और ज्ञान के अभाव में सन्देह के दंश को झेलते हुये भी अपने कर्म में आगे बढ़ना श्रेयष्कर समझे तर्कहीन आस्था के बजाय– तभी वह आधुनिक मनोवृत्ति वाला आदमी कहलायेगा।

विद्यासागर इस निर्मम कसौटी पर भी खरे उतरने वाले व्यक्ति थे। उनके द्वारा रचित पाठ्यपुस्तक 'बोधोदय' अंग्रेजी पुस्तकों से सामग्रियाँ लेकर रचा गया साधारण ज्ञान का संकलन है। जीवजगत, मनुष्यशरीर,

समाज, ब्रह्माण्ड आदि विषयों पर संक्षिप्त परिचयमाला है। कहा जाता है कि इसके पहले संस्करण में 'ईश्वर' का कोई परिचय नहीं था। फिर किसी ने यह सवाल उठाया। कोई रचनाकार प्रख्यात साधक संत विजयकृष्ण गोस्वामी का नाम लेते हैं तो दूसरे, किसी अंग्रेज का नाम लेते हैं। जिसने भी उठाया हो, सवाल यही था कि जब पूरे जगत का परिचय है तो विद्यासागर ने ईश्वर का परिचय क्यों नहीं दिया। यह भी कहा गया कि इस पुस्तक को पाठ्यपुस्तक नहीं बनाया जाना चाहिये। इसे पढ़ने से छात्र बिगड़ जायेंगे। तब विद्यासागर ने अगले संस्करण में 'पदार्थ' के बाद एवं 'चेतन पदार्थ' के पहले 'ईश्वर' का परिचय दिया– सृष्टिकर्त्ता, निराकार चैतन्यस्वरूप, अदृश्य, सर्वत्र विराजमान, परम दयालु, जीवजगत के रक्षाकर्ता।

इस बात को लेकर पिछले 100 वर्षों में काफी बहस हुये हैं कि विद्यासागर आस्तिक थे या नास्तिक थे, संशयवादी थे या अज्ञेयतावादी थे। उनकी जीवनी के सभी रचनाकार एवं उनके कर्मों के विभिन्न अध्ययनकर्ता विभिन्न प्रसंगों, विभिन्न व्यक्तियों के साथ की गई उनकी बातचीत की चर्चा करते हैं यह बताने के लिए ईश्वर के प्रति उनका क्या रुख था। उन्हें पढ़ कर वे गौतम बुद्ध या बौद्धदर्शन के करीब दिखते हैं। जिस तरह बुद्ध के दर्शन में जगत की व्याख्या के कार्यकारण सम्बन्धों में कहीं भी ईश्वर या किसी अन्य नाम के सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान स्रष्टा की जरूरत नहीं पड़ती है, उसी तरह ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सांसारिक दिनचर्या व कर्मजीवन के नियोजन में कहीं भी किसी सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान नियंता की जरूरत नहीं पड़ती है कि 'उसका आशीर्वाद प्राप्त न हो तो काम रुक जाये'– अगर स्रष्टा हैं तो हैं, फिलहाल 'मेरी जिन्दगी के जद्दोजहद में उनके होने या न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता है।

इस ईश्वर–प्रसंग से अलग, अगर उनके पूरे जीवन की कर्मपद्धति पर गौर किया जाय तो सिर्फ तार्किक प्रवृत्ति और युक्तिसंगति पर जोर ही हर जगह नजर आयेगा। चाहे वह शिक्षा–व्यवस्था पर किया गया काम हो या विधवाविवाह चालु करवाने के लिये किया गया काम हो, उनके योजनाबद्ध काम का तरीका हर कदम पर दिखेगा।

lkxBfud çofÙk & हक्सले द्वारा गिनाये गये वैज्ञानिक मानवता के लक्षणों में इसे भी गिना गया है। यह एक वैज्ञानिक मनोवृत्ति

है। भावना में बहने वाले व्यक्ति को लगता है कि उस से अकेले ही सब कुछ हो जायेगा। यह भी लगता है कि अकेले उसका चलना शुरू होगा तो लोग खुद व खुद जुड़ते चले जायेंगे, इसके लिये लोगों से पूछने की क्या जरूरत? लेकिन वैज्ञानिक सोच रखने वाला व्यक्ति लोगों को संगठित करता है क्योंकि वह जानता है कि सही और गलत को सिर्फ सैद्धांतिक नहीं सामाजिक कसौटी पर भी तय करना पड़ता है, यानि सामान्य जन के लिये स्वीकार्य बनाना पड़ता है। तभी सत्य और न्याय आगे बढ़ता है और मिथ्या, भ्रम, अन्याय पीछे छूटता जाता है।

विद्यासागर में सांगठनिक प्रवृत्ति तो शुरू से ही थी। पूर्व के अध्यायों में भी आप देखेंगे कि उन्होने जब भी किसी सामाजिक कार्य का बीड़ा उठाया, पहले अध्ययन व लेखन के द्वारा उस विषय के बारे में अपने विचारों को स्पष्ट करने एवं दूसरों से साझा करने के बाद उन्होंने तुरंत या तो लोकबल को संगठित किया है या एवं अपने सक्षम सहयोगियों को ढूंढ़ निकाल कर काम का जिम्मा सौंपा है। विद्यालयों के विशेष निरीक्षक बनने के बाद अविलम्ब उन्होने सहयोगी निरीक्षकों को नियुक्त किया। विधवाविवाह के सवाल पर सरकार को पत्र भेजने के लिये लगभग एक हजार हस्ताक्षर उन्होने जुटाया। उसके बाद भी औरों को सामूहिक आवेदन पर हस्ताक्षर अभियान चलाने के लिये प्रेरित करते रहे। उनकी सांगठनिक प्रतिभा का श्रेष्ठतम प्रदर्शन था 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टिटयूशन'। कितनी अद्भुत सी बात है कि प्रचलित परम्पराओं के विपरीत छात्रों को किसी भी तरीके की दैहिक यातना देने पर सख्त रोक लगाने तथा शिक्षकों को सबसे अधिक तनख्वाह देने के बावजूद 'मेट्रोपॉलिटन इन्स्टिटट्यूशन', कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्धता पाने के बाद पहले ही वर्ष में छात्रों के स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण होने की कसौटी पर पूर्णतः सफल हुआ। जबकि यह भारतीयों द्वारा स्थापित और चलाया जा रहा पहला कालेज था। अंग्रेज मान ही चुके थे कि इसका डूबना तय है। और एक साल बीतते ही उन्हे बोलना पड़ा, "पंडित हैज डन वंडर्स!"

इसका राज था विद्यासागर की सांगठनिक प्रवृत्ति जिसकी अभिव्यक्ति होती थी छात्रों और शिक्षकों के साथ मित्रता और स्नेह के रिश्ते में।

'मेट्रोपॉलिटन इन्स्टिटट्यूशन' का कोई अध्यापक या कोई कर्मचारी खुद को विद्यासागर का नौकर कहने पर विद्यासागर तुरंत विरोध करते

हुये बोलते थे, "तुम लोग मेरे सहायक हो। मैं अकेले सारा काम करने में अक्षम हूँ इसी लिये तुमलोगों को सहायक बनाया हूँ। खुद को नौकर क्यों कहते हो? तुम्हारे अध्यापन से जो रुपये आते हैं वे तो तुम्हारे ही हैं। मैं सिर्फ बाँट देता हूँ।"

अनुशासन में भी उसी तरह कड़ाई करते थे। एक अध्यापक कक्षा में सोते हुये पाये गये तो निकाल दिये गये थे। कुछेक छात्र बगल वाले कन्या आवास में ताकझाँक करते पाये गये तो खुद तसल्ली कर कालेज से उनका नाम कटवाये।

दूसरी ओर जब उन्होने देखा कि किसी कक्षा में शिक्षक एक छात्र को जबाब देनें में अक्षम पाकर बगलवाले दूसरे छात्र से वही सवाल पूछ रहे हैं तो विद्यासागर ने तुरंत टोका। अध्यापक को किनारे ले जा कर कहा कि ऐसा करने से पहले वाला छात्र अपमानित महसूस करेगा। वल्कि उसी से, जरूरत पड़े तो थोड़ा इशारा, आभास वगैरह दे कर उसी के मुंह से जबाब निकलवाइये। विद्यासागर की सांगठनिक प्रवृत्ति और प्रतिभा सामने आती है जब वह हुगली जिला में अकाल से निपटने और बाद में, बर्धमान जिले में महामारी से निपटने के लिये राहत–शिविरों को संगठित करते हैं। कैम्प–प्रबंधन एवं डाक्टरों का इन्तजाम करते हैं।

vkRe lEeku dk cks/k& इस लक्षण के बारे में कुछ भी अलग से कहा जाय तो वह पहले कही गई बातों की पुनरावृत्ति होगी। 'राष्ट्रीयता का बोध' एवं 'प्रतिवादी सोच' के शीर्षक के अधीन वो सभी बातें हैं जो, विद्यासागर में 'आत्मसम्मान का बोध' कितना था उसका बयान करते हैं।

R;kx dk vkn'k – इस लक्षण पर एवं इसके आगे 'दूसरों के हित के लिये तत्पर' शीर्षक लक्षण पर भी अधिक कहने की जरूरत नहीं। क्योंकि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की प्रचलित सभी जीवनियों में इन दोनों गुणों एवं आम तौर पर मानवकल्याण की भावना से वह कितना ओतप्रोत थे उसी की विशद चर्चा है। छात्रावस्था से ही वह दूसरों के दुःख–दर्द में कूद पड़ते थे। अकाल और मलेरिया के प्रकोप के दौरान उनकी सेवाओं की चर्चा तो पहले ही की जा चुकी है। जब वह छात्र थे उस समय कलकत्ता शहर में जहाँ तहाँ कॉलेरा का प्रकोप होता था। कभी विद्यासागर के परिचित तो कभी बिल्कुल अपरिचित परिवार के कॉलेरा से पीड़ित होने की खबर आती थी। उन परिवारों में पहुँच कर

रात दिन जग कर वह रोगियों की सेवा करते थे। उनके इस सेवाभाव के बारे में लोग जान चुके थे। इसलिये परिचित चिकित्सक लोग उनके बुलाने पर रोगियों को देखने चले आते थे लेकिन फीस नहीं लेते थे। दवाओं का खर्च विद्यासागर खुद उठाते थे। रोगियों की सेवा करते हुये उन्हे बिल्कुल परवाह नहीं रहती थी कि खुद भी उसी रोग से ग्रसित हो सकते हैं और उन्ही के जैसा मर भी सकते हैं।

nljk dk fgr dk fy;k rRij & इस शीर्षक में उपरोक्त बातों को बिना दोहराये हुये हम सिर्फ इतना जोड़ेंगे कि रोग और अकाल में सेवा से अलग, अनगिनत लोगों को विद्यासागर आर्थिक सहायता देकर बदहाली से उबारा करते थे। इतना अधिक करते थे कि कुछ तो कहानियाँ भी बाद में गढ़ ली गई हैं। छात्रों की पढ़ाई का खर्च उठाना, गरीब बेसहारा कई औरतों के जीवन निर्वाह का खर्च उठाना यह सब आजीवन उनके माहवारी खर्च का हिस्सा बना रहा। चाहे वह सरकारी नौकरी की तनख्वाह एवं स्वरचित पुस्तकों की बिक्री के कारण अच्छी स्थिति में हो या नौकरी चले जाने के उपरांत विधवा–विवाहों का खर्च उठाते उठाते कर्जदार हो गये हों। उनका इच्छापत्र भी आज एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। उनकी आय व सम्पत्ति का बँटवारा वह जिस प्रकार से किये, कितने लोगों के बारे में वह सोचे... वह पढ़ने लायक है।

eY;ksa dk ck/k & इस शीर्षक पर भी अलग से बहुत कुछ कहने की जरूरत नहीं है क्योंकि उपरोक्त सारे लक्षण मूल्यों के बोध से ही सम्बन्धित हैं। बाकी रहा इमानदारी, सत्यनिष्ठा, छल–कपट–दुराचार–भ्रष्टाचार से घृणा, जी–हुजूरी से घृणा, माता–पिता के प्रति श्रद्धा, पत्नी और परिवार से प्रेम, वात्सल्य, जनता से जुड़ाव– अनगिनत प्रसंग हैं इनके और सभी इनके बारे में जानते हैं। फिर भी, एक प्रसंग की चर्चा यहाँ आवश्यक है। वह है बंगला के प्रख्यात कवि माइकल मधुसुदन दत्त के साथ ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का रिश्ता, D;kfd ekbdy dh tk enn mUgksau dh] og n;kyqrk dk ekeyk ugha] fcdjky leL;kvks ls f?kjs ,d 'kjkch dfo ds çfr —ik–f"V ugha] cfYd ekbdy ds thoueY;& tk dbl igyqvks e mud viu thoueY;ks ls vyx Fkk& ds lj{k.k dk ekeyk FkkA og Hkh] fe=rk ds [kkfrj ugha] cfYd ckXyk lkfgR; ds Økfrdkjh Hkfo"; ds eíutjA ;kfu] ;g turkf=d cgqyrkokn dk eY; Fkk] tks ges fo|klkxj e utj vk;kA ●

m|ferk ds {ks= e

संस्कृत के प्रखरतम विद्वान, शिक्षक, पाठ्यक्रमों के निर्माता, पाठ्यपुस्तकों के रचयिता, बांग्ला गद्य को साहित्य के लायक बनाने वाला, वर्णमाला का सुधार करने वाला, अंग्रेज सरकार की मदद से एवं कुछ मदद के बिना सौ से उपर बालक विद्यालयों एवं चालीस के उपर बालिका विद्यालयों के संस्थापक, एक महाविद्यालय के संस्थापक, आजीवन जनसेवा व जनकल्याण को निवेदित प्राण तथा सर्वांगीण नारीमुक्ति के लिये संघर्षकारी व्यक्तित्व थे विद्यासागर। इसके आगे फिर उद्यमिता का प्रसंग अचरज पैदा करता है। और, जरूरत भी क्या बनती है इस पुस्तक में जिक्र करने की? क्या आज के सन्दर्भ में इस क्षेत्र में उनके काम को रेखांकित करने की कोई आवश्यकता है?

बेशक। हम मानते हैं कि आवश्यकता है। आज उद्यमिता का अर्थ तक बदल गया है। लेकिन युवाओं में उद्यमिता के उत्साह का बढ़ना जरुरी है। बल्कि बंगाल तो इस माने में बदनाम था कि यहां के युवा सिर्फ नौकरी ढूंढ़ते हैं, व्यवसाय की दिशा में, उद्यमिता की दिशा में आगे बढ़ना नहीं चाहते – भले ही यह अर्ध सत्य हो।

lLd`r çsl fMikftVjh

सन 1847 के अप्रैल महीने में विद्यासागर ने संस्कृत कॉलेज की अपनी पहली दफा की नौकरी से इस्तीफा दिया। कारण था प्रशासन से मतविरोध। उसी समय, अपने अग्रज मित्र (उम्र में तीन साल बड़े) मदन मोहन तर्कालंकार के साथ मिल कर आधे–आधे की मिल्कीयत पर उन्होने एक छापाखाना खोला, नाम था संस्कृत प्रेस। इसके लिये उन्होने 600 रुपये कर्ज लिये, जो बाद में चुकता किया गया। आगे, उस छापाखाना में छपे पुस्तकों के भंडारण के लिये एक ग्रंथ–भंडार या डिपोजिटरी भी खोला गया। यह डिपोजिटरी धीरे धीरे पुस्तकों का दुकान बन गया जिसमें संस्कृत प्रेस में छपे लेखकों के अलावा अन्य लेखकों के पुस्तक भी रखे जाते थे। पूरा छापाखाना एवं भंडार एक ही नाम से परिचित हुआ, 'संस्कृत प्रेस ऐन्ड डिपोजिटरी' या 'संस्कृत प्रेस

डिपोजिटरी'। पाठक विकिपिडिया में ढूंढ़ेंगे। इस छापाखाना का लगभग पूरा वृत्तांत मिल जायेगा। लेकिन विकीपिडिया के उस पृष्ठ पर छापाखाने का तत्कालीन पता नहीं मिलेगा। शायद किसी जीवनीग्रंथ में यह पता दिया हो, लेकिन हमें वह पता फेसबुक पर गौतम बसुमल्लिक द्वारा 9 जून 2011 को किये गये पोस्ट से मिला। बाद में दिखा कि बंगला 'एइ समय' अखबार ने इस सम्बन्धित एक खबर के लिये तथ्यों के स्रोत के रूप में गौतम बसु मल्लिक को ही दर्शाया है। गौतम बसु मल्लिक अपने पोस्ट में, कलकत्ता निवास के दौरान विद्यासागर के आवासों की चर्चा करते हुये लिखते हैं, "मित्र मदनमोहन तर्कालंकार के साथ विद्यासागर ने जिस घर में संस्कृत प्रेस एवं संस्कृत प्रेस डिपोजिटरी के नाम से छापाखाना एवं प्रकाशन संस्था खोला था, उस संस्था का कार्यालय 63, अमहर्स्ट स्ट्रीट वाले मकान में भी विद्यासागर कुछ दिनों तक जीवन व्यतीत किये हैं। वह मकान अब ध्वस्त हो चुका है।"

इस छापाखाने में छपे पहले पुस्तक का नाम है 'अन्नदामंगल'। बंगाल के तत्कालीन प्रख्यात कवि भारतचन्द्र (या भारतचन्द्र राय गुणाकरः 1712–1760) द्वारा रचित इस काव्य को बंगला साहित्य के इतिहास में ऊँचा स्थान प्राप्त है। भारतचन्द्र मध्ययुग के अंतिम कवि एवं आधुनिक काल के अग्रदूत माने जाते हैं।

इस पुस्तक की एक दुर्लभ पाण्डुलिपि कृष्णनगर के जमींदारों के पास सुरक्षित थी। विद्यासागर ने उनसे इस पाण्डुलिपि को संग्रह किया। इस बारे में एक कहानी विद्यासागर के जीवनीकार इन्द्र मित्र यूँ बताते हैंः "संस्कृत प्रेस के लिये कर्ज लेना पड़ा है। छः सौ रुपयों का कर्ज।

"बात बात में एकदिन विद्यासागर ने मार्शल साहब को कहा– हमलोगों ने एक छापाखाना खोला है। अगर कुछ छपवाने की जरूरत पड़े तो कहियेगा।

"मार्शल साहब ने कहा – फोर्ट विलियम कॉलेज के छात्रों को भारतचन्द्र का 'अन्नदामंगल' पढ़ाना पड़ता है। जो किताब पढ़ाया जाता है उसका कागज और छपाई दोनों खराब है। बहुत सारी गलतियाँ भी हैं। तुम अगर कृष्णनगर के राजमहल से असली 'अन्नदामंगल' की पाण्डुलिपि ला कर उसकी अशुद्धियाँ दूर कर जल्द से जल्द किताब

छाप सको तो फोर्ट विलियम कॉलेज के लिये मैं सौ किताबें लूंगा, कीमत में छःसौ रुपये दूंगा।

"वही किया विद्यासागर ने।"

उसी छः सौ रुपये से कर्जा चुकाने के बाद संस्कृत प्रेस से दूसरा पुस्तक छपा विद्यासागर का अपना ही लिखा हुआ 'बेताल पंचविंशति'। मूल पारम्परिक संस्कृत लोक–आख्यान के तत्कालीन हिन्दी संस्करण पर आधारित। फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रबंधन द्वारा इस पुस्तक की सौ प्रतियाँ खरीदी गई। तीन सौ रुपये की कीमत पर। बाकी प्रतियाँ दोस्तों को उपहार में बाँटी गई।

यहाँ बता दें कि 'बेताल पंचविंशति' विद्यासागर द्वारा रचित दूसरा पुस्तक लेकिन छपा हुआ पहला है। इसके पहले रचित 'बासुदेव चरित' उनके जीवनकाल में छपा नहीं। शायद 'बेताल पंचविंशति' भी नहीं छपता। फोर्ट विलियम कॉलेज में पहली बार नौकरी करते समय ही कॉलेज के प्रबन्धन ने उन्हे बांग्ला में छात्रों के लिये उपयोगी, सरल व बढ़िया गद्य–पुस्तक लिखने का अनुरोध किया था। उसी के बाद उन्होने पहले 'बासुदेव चरित' लिखा। लेकिन, शायद धार्मिक आख्यान होने के कारण कॉलेज के प्रबंधन ने उसे स्वीकार नहीं किया। बाद में, जब विद्यासागर का अपना छापाखाना हुआ, तब इस पुस्तक की पाण्डुलिपि कहीं गुम हो चुकी थी। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र ने इस पाण्डुलिपि को ढूंढ़ कर निकाला।

फिर से, पाठ्यपुस्तक लिखने की, मार्शल साहब के अनुरोध पर विद्यासागर ने 'बेताल पंचविंशति' का लेखन शुरु किया। 'बेताल पंचविंशति' की रचना करते समय आधार–स्वरूप उनके सामने दो पुस्तकें थीं। पहला, शिवदास भट्ट रचित संस्कृत 'बेताल पंचविंशका' एवं दूसरा, फोर्ट विलियम कॉलेज के ही हिन्दी शिक्षक लल्लू लाल रचित 'बेताल पचीसी'। संस्कृत के पंडित होते हुये भी विद्यासागर ने आधार–स्वरूप संस्कृत पुस्तक को न चुन कर हिन्दी पुस्तक को चुना। इसके कई कारण रहे होंगे। पहला तो यही कि उन्होने इसी कॉलेज में योगदान के बाद, शायद लल्लू लाल से ही हिन्दी सीखा था– या तो यह गुरुप्रणाम था। दूसरा, हिन्दी उन्होने कितना और कैसा सीखा इसका आत्मपरीक्षण भी था।

तीसरा, हिन्दी पुस्तक हाल की रचना होने के कारण जमाने के अनुरूप कई शोधन उसमें हो चुके थे। खैर, कॉलेज के प्रबंधन को यह पुस्तक भी स्वीकार्य नहीं हुआ। तब विद्यासागर ने पुस्तक की पाण्डुलिपि को श्रीरामपुर के यूरोपीय मिशनरियों के पास भेजा जिनका बांग्ला भाषा के लिये किया गया काम आज इतिहास है। वहाँ थे मार्शमैन साहब, जोशुआ मार्शमैन, बहुभाषाविद, जिन्होने विलियम कैरी के साथ मिल कर रामायण का अंग्रेजी अनुवाद किया था, बाइबल का कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया था एवं श्रीरामपुर कॉलेज की स्थापना किया था। अंग्रेजी के बजाय स्थानीय भाषा में शिक्षा के वह प्रबल पक्षधर थे। उन्होने विद्यासागर द्वारा रचित 'बेताल पंचविंशति' को उस समय तक प्रकाशित बांग्ला गद्य–पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ कहा। तब जा कर फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रबंधन ने उसे पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकार किया।

विद्यासागर ने बांग्ला गद्य को इतना सरल व कलात्मक रूप दिया था कि चुटकुला चल पड़ा – एक विद्वान व्यक्ति किसी की गद्य रचना पढ़ कर बोले "अरे, यह तो तुमने विद्यासागरी गद्य लिख दिया है, सब कुछ समझ में आ रहा है!"

खैर, आगे हम विकीपिडिया से लेते हैं, "सन 1849 में मदन मोहन तर्कालंकार ने 'शिशुशिक्षा' के नाम से बच्चों के लिये एक चित्रित पुस्तक माला लिखना शुरु किया [जिसकी छपाई संस्कृत प्रेस में होने लगी – व॰ले॰], इस पुस्तकमाला का तीसरा पुस्तक था विद्यासागर रचित 'बोधोदय' (1850)। 'बोधोदय' के साथ, संस्कृत प्रेस को अपने प्रयोगों के प्रयोगशाला के रूप में इस्तेमाल करते हुये, बांग्ला प्राथमिक शिक्षा के आधुनिकीकरण व सुधार हेतु विद्यासागर की परियोजना शुरू हुई।"

हालाँकि इधर, सन 1981 में प्रकाशित एक संकलन 'बांग्ला मुद्रण ओ प्रकाशन' (चित्तरंजन बंदोपाध्याय सम्पादित) में निखिल सरकार रचित एक निबंध है 'आदिजुगेर पाठ्यपुस्तक'। उक्त निबंध के अनुसार शिशुशिक्षा पुस्तक माला का तीसरा पुस्तक भी मदन मोहन तर्कालंकार का लिखा हुआ था जो 1950 में प्रकाशित हुआ। 'बोधोदय' उस पुस्तकमाला का चौथा पुस्तक था और एक पाँचवाँ पुस्तक भी प्रकाशित हुआ था सन 1851 में, जिसके लेखक थे राजकृष्ण बंदोपाध्याय।

सन 1850 में मदन मोहन तर्कालंकार संस्कृत कॉलेज के साहित्य–अध्यापक की नौकरी छोड़ कर 'जज–पंडित' का पद ग्रहण कर मुर्शिदाबाद चले गये। विद्यासागर के जीवनीकार यह बताते हैं कि संस्कृत प्रेस कुछ दिनों तक साथ साथ चलाने के बाद मदन मोहन तर्कालंकार के साथ विद्यासागर का मतांतर हुआ। किस बात को लेकर, पता नहीं चलता है। कब हुआ यह भी नहीं पता चलता है। जीवनीकार बिहारीलाल सरकार कहते हैं, "विद्यासागर महाशय एवं मदन मोहन तर्कालंकार महाशय दोनों इस छापाखाना के बराबर के हिस्सेदार थे। कुछ ही दिनों के अन्दर मदन मोहन तर्कालंकार के साथ विद्यासागर महाशय का मतांतर हुआ। विद्यासागर महाशय किसी कारण से तर्कालंकार महाशय पर नाराज होकर उनके साथ सारा सम्बन्ध त्यागना चाहे। स्वर्गीय श्यामाचरण विश्वास एवं स्वर्गीय राजकृष्ण बंदोपाध्याय महाशय ने सुलह कर विवाद समाप्त किया। प्रेस विद्यासागर महाशय की सम्पत्ति बनी।"

वैसे, उपलब्ध प्रसंगों के अध्ययन से एक बात प्रतीत होती है कि मदन मोहन तर्कालंकार के लिये छापाखाना और पुस्तकों का भंडार बस एक चलता हुआ कारोबार था जिसके आगे बढ़ने की एकमात्र शर्त थी बस अच्छा प्रबंधन। जबकि कारोबार को आगे बढ़ने के लिये प्रबंधन के साथ साथ होना चाहिए एक उद्यमी की सोच, नये नये कार्यों को हाथों में लेने की भूख, जो विद्यासागर की चारित्रिक विशिष्टता थी। स्वाभाविक लगता है थोड़ा अनबन का होना। लेकिन बढ़ने का मुख्य कारण था मदन मोहन तर्कालंकार का दूर, मुर्शिदाबाद चले जाना एवं कुछ स्वार्थी रिश्तेदारों द्वारा कान भरा जाना।

बांग्ला पाठ्यपुस्तक के प्रकाशन में उसके पहले तक अंग्रेजों और खास कर मिशनरियों का ही बोलबाला था, जिसमें प्रमुखतम था 'स्कूल बुक सोसायटी'। अधिकांश पाठ्यपुस्तकें इसी प्रकाशन संस्था से छपते थे। कुछेक देशी छापाखाने तो थे ही पर उन छापाखानों से पाठ्यपुस्तकें कम निकलते थे। साथ ही उन पाठ्यपुस्तकों में और संस्कृत प्रेस में छपने वाले पाठ्यपुस्तकों में गुणात्मक अन्तर था। उपरोक्त निबन्धकार निखिल सरकार लिखते हैं, "खास कर उन्नीसवीं सदी के

पाँचवें दशक में स्कूल बुक सोसायटी से अधिक ख्याति थी संस्कृत प्रेस की। एक वर्णन में देख रहे थे कि सन 1857 यानि महाविद्रोह के वर्ष में संस्कृत प्रेस ने 84,200 प्रति [विभिन्न पुस्तकों का कुल–व॰ले॰], प्रकाशित किया है जबकि सरकारी अनुदान मिलने के बावजूद स्कूल बुक सोसायटी उस वर्ष महज 32,000 प्रतियाँ छाप पाई है।"

प्रेस के संस्थापक थे दो पाठ्यपुस्तक रचयिता, विद्यासागर एवं मदन मोहन तर्कालंकार। लेकिन बांग्ला पाठ्यपुस्तकों की रचना में क्रांति लाने का श्रेय इन दोनों के साथ एक तीसरे व्यक्ति को भी बराबर मिलना चाहिये। वह हैं अक्षय कुमार दत्त। विद्यासागर के हम–उम्र तथा महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की पत्रिका 'तत्ववोधिनी' के सम्पादन के दिनों से मित्र यह लेखक बच्चों के लिये बांग्ला में विज्ञान के पुस्तकों के पहले गंभीर रचयिता थे। निखिल सरकार ने पाठ्यपुस्तक के लेखन में इन तीनों को 'ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर' का नाम दिया एवं संस्कृत प्रेस अक्षय कुमार दत्त द्वारा रचित पाठ्यपुस्तकों को भी छापता रहा। सन 1856 में संस्कृत प्रेस ने ही छापा उनका 'पदार्थविद्या (जड़ेर गुण ओ गतिर नियम), यानि भौतिकविज्ञान (पदार्थ के गुण एवं गति के नियम)। अंग्रेजी में उसका नाम रखा गया था 'एलिमेन्ट्स ऑफ नैचुरल फिलॉसॉफी (मैटर ऐन्ड मोशन)। पुस्तक की भूमिका में लेखक ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एव अमृतलाल मित्र के प्रति आभार व्यक्त किया है।

अक्षय कुमार दत्त द्वारा रचित 'प्रकृतिर सम्बन्ध विचार', 'धर्मनीति, प्रथम भाग' (प्रिन्सिपल्स ऑफ मोराल्स), 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' आदि पुस्तकें भी लगातार संस्कृत प्रेस डिपोजिटरी से प्रकाशित होते रहे।

सन 1855 में विद्यासागर का 'वर्णपरिचय' पहला भाग प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक बांग्ला वर्णमाला के साथ साथ बांग्ला भाषाशिक्षण की पूरी पद्धति को ही बदल दिया। मदनमोहन तर्कालंकार रचित 'शिशुशिक्षा' पुस्तकमाला के साथ 'वर्णपरिचय' ने मिल कर बांग्ला पाठ्यपुस्तक मुद्रण में संस्कृत प्रेस की भूमिका को भी बदल दिया। पूर्व–उद्धृत निबन्धकार निखिल सरकार बताते हैं:

"विद्यासागर रचित 'वर्णपरिचय' के पहले भाग का प्रकाशन हुआ 1855 ईसवी में। दूसरा भाग भी उसी साल। 1890 ईसवी तक 'शिशुशिक्षा' के पहले भाग के 149 संस्करण प्रकाशित हुये। ....1889 तक दूसरे भाग के 84 संस्करण हुये। ...1890 तक 'शिशुशिक्षा' तीसरे भाग के 101 संस्करण प्रकाशित हुये। ...दूसरी ओर, पहला प्रकाशन के बाद 1890 ईसवी तक 'वर्णपरिचय' प्रथम भाग के 152 संस्करण हुये। (1855 से 1857 ईसवी के बीच प्रकाशित हुये 9 संस्करणों में प्रतियों की कुल संख्या थी 53 हजार)। ...1890 तक 'वर्णपरिचय' के दूसरे भाग के 140 संस्करण हुये। 'बोधोदय' .....पहली बार प्रकाशित हुआ 1851 में। 1890 तक इसके 106 संस्करण प्रकाशित हुये। ....विद्यासागर रचित एक और पुस्तक 'कथामाला' पहली बार प्रकाशित हुआ 1856 ईसवी में। 1890 तक इसके 51 संस्करण हुये।"

इसी से पता चलता है कि उद्यमिता का यह जोखिम भरा कदम उठा कर विद्यासागर किस तरह सफलता के मार्ग पर अग्रसर हुये।

सुबल चन्द्र मित्र विद्यासागर की जीवनी में लिखते हैं कि जब उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी, तब उन्हें इस व्यवसाय की ओर ध्यान देने का अवसर मिला। प्रेस बड़ा हो रहा था, कई लोग उसमें काम करने लगे थे – उनकी रोजीरोटी थी यह छापाखाना और किताब की दुकान। लेकिन विद्यासागर छापाखाना के "मुख्य अधिकारी के आचरण एवं कामकाज से बहुत असंतुष्ट हुये। बही खातों का रखरखाव सही ढंग से नहीं हो रहा था एवं सब कुछ अव्यवस्थित था। अतः उन्होंने अपने मित्र राजकृष्ण से डिपोजिटरी के व्यवसाय का निरीक्षक बनने को कहा। राजकृष्ण उस समय फोर्ट विलियम कॉलेज में 80 रुपयों के मासिक वेतन पर हेड असिस्टैन्ट के पद पर कार्यरत थे। वह छः महीने की छुट्टी लेकर डिपोजिटरी के प्रबन्धन के निरीक्षण में जुट गये। इन छः महीनों में राजकृष्ण ने मेहनत और लगन के साथ बही खातों का परीक्षण किया एवं उसे साफसुथरा किया। काफी कोशिशों के बाद वह छापाखाना एवं दुकान को पूरी तरह व्यवस्थित करने में सफल हुये। व्यवसाय जल्द ही तरक्की के रास्ते पर आई और बही खाते ही उसकी अग्रगति को बता रहे थे। विद्यासागर के पिता राजकृष्ण के प्रबन्धन से इतना खुश हुये कि उन्होने राजकृष्ण को फोर्ट विलियम कॉलेज से इस्तीफा दे कर स्थाई तौर पर डिपोजिटरी का सुपरिन्टेन्डेन्ट बन जाने को कहा। विद्यासागर ने

भी उन्हे ऐसा ही करने को उत्साहित किया। फलस्वरूप, राजकृष्ण स्थाई तौर पर डेढ़ सौ रुपये की तनख्वाह पर संस्कृत प्रेस डिपोजिटरी के मैनेजर नियुक्त हो गये। डिपोजिटरी बहुत तेजी से विकासमान एवं लाभदायी व्यवसाय बन गया।"

व्यवसाय इतना बढ़ा कि जब सरकारी नौकरी में उनकी तनख्वाह संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य का वेतन और विद्यालयों के विशेष इंसपेक्टर का वेतन मिलाकर कुछेक सौ रुपये होती थी, पुस्तक मुद्रण व बिक्री के व्यवसाय से आय हजारों में होने लगी। हालाँकि, इस लाभदायी व्यवसाय का 'लाभ' विद्यासागर को नहीं मिला। इतने दानी थे कि आगे चलकर अपने दानों के कारण और अपने खर्च से विधवाओं के किये गये विवाह–आयोजनों के कर्ज के कारण संस्कृत प्रेस डिपोजिटरी को बेच देना पड़ा।

सन 1828 के नवम्बर महीने में आठ साल की उम्र में बालक ईश्वर कलकत्ता आये थे संस्कृत कॉलेज में भर्ती होने के लिये। उसके बाद से सन 1891 के 29 जुलाई को हुये उनकी मृत्यु तक के 63 वर्षों में से 49 वर्षों तक वह विभिन्न किराये के मकानों में या किसी का अतिथि बन कर बिताये। आखिर के 18 वर्षों में, यानि सन 1872 के बाद वह कर्माटाँड़ के नन्दन कानन में या उसके कुछ वर्षों बाद खरीदे गये बादुड़ बागान के मकान में रहे।

विद्यासागर काम के हर क्षेत्र में नये कदम उठाने वाले व्यक्ति थे। जिस तरह उन्होने वर्णमाला का सुधार किया उसी तरह बांग्ला छापाखाने का भी सुधार किया। निखिल सरकार लिखते हैं, "कहा जाता है कि पाठ्यपुस्तक के हरफ एवं युक्ताक्षरों के लिपिचित्रों में समानता लाने के लिये वह श्रीरामपुर स्थित अधर टाइप फाउन्ड्री तक पहुँच गये थे।"

lkeçdk'k ,o fgUn iSfV;V

उद्यमिता और उद्यमिता के जरिये समाज को आगे बढाने के काम का एक और मिसाल है 'सोमप्रकाश' पत्रिका की शुरुआत एवं 'हिन्दू पैट्रियट' पत्रिका का अधिग्रहण।

सन 1858 के नवम्बर महीने में विद्यासागर विद्यालयों के विशेष निरीक्षक के पद से इस्तीफा दिये। दो महीने तक अंग्रेज सरकार, खास

कर लेफ्टेनैन्ट गवर्नर हैलिडे उन्हे मनाने की कोशिश करते रहे पर विद्यासागर नहीं माने, क्योंकि डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन गॉर्डन यंग उद्धत ढंग से पेश आ रहे थे, और साथ ही विद्यासागर द्वारा खोले गये बालिका विद्यालयों का खर्च सरकार देने को राजी नहीं हो रही थी। उधर उनके प्रयासों से सरकार ने विधवाविवाह कानून बनाया था, वह खुद विधवाओं के विवाह खुद खड़ा होकर दे रहे थे, लेकिन बांग्ला अखबार एवं पत्रपत्रिकाओं की दुनिया में वह अभाव महसूस कर रहे थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रकाशित 'तत्वबोधिनी' पत्रिका या अन्य पत्रिकायें तब पहले वाली स्थिति में नहीं थी। अंग्रेजी में हरीशचन्द्र मुखर्जी द्वारा सम्पादित 'हिन्दू पैट्रियट' तो शानदार तरीके से अंग्रेजी पत्रकारिता की दुनिया में सामाजिक सुधार एवं प्रारंभिक राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार में अपनी जगह बना रहा था। बांग्ला में खालीपन था। बालविवाह, कुलीन प्रथा यानि बहुविवाह आदि सवालों को लेकर जनमत तैयार करने के लिये एक अखबार या सामयिकपत्र की आवश्यकता थी। दूसरी ओर, दिमाग के किसी कोने में एक दूसरा सवाल भी कुरेद रहा था। कुछ दिनों पहले शारदा प्रसाद गांगुली नाम के एक व्यक्ति विद्यासागर से मिलने आये थे। वह कभी संस्कृत कॉलेज के ही अच्छे छात्र थे, संस्कृत एवं हिन्दी के ज्ञान के कारण छात्रवृत्ति भी मिलती रही थी। लेकिन दुर्भाग्य से उनकी श्रवणशक्ति लुप्त हो चुकी थी। विद्यासागर से उन्होने अनुरोध किया था कि उनकी रोजीरोटी की कुछ व्यवस्था कर दी जाय। ईश्वरचन्द्र, संस्कृत कॉलेज के एक सहकर्मी, अध्यापक द्वारकानाथ विद्याभूषण के साथ बातचीत करने लगे कि एक साप्ताहिक समाचारपत्र प्रकाशित किया जाय। द्वारकानाथ भी राजी हो गये। विद्यासागर के पास अभी पुस्तकों की बिक्री आदि से इतना पैसा आ रहा था कि साप्ताहिक पत्र निकल सकता था। सन 1858 के 15 नवम्बर को 'सोमप्रकाश' का प्रकाशन शुरू हुआ। जीवनीकार सुबल चन्द्र मित्र कहते हैं कि शारदा प्रसाद गांगूली 'सोमप्रकाश' के प्रकाशक बनाये गये ताकि उन्हे इसका लाभ मिल सके। हालाँकि, आगे के सूचना–स्रोतों से यह प्रतीत होता है किसी कारणवश शारदा प्रसाद गांगुली इससे जुड़े नहीं रह सके और समाचारपत्र का पूरा भार द्वारकानाथ विद्याभूषण पर पड़ गया। द्वारकानाथ

विद्याभूषण ब्राह्मोसमाज के यशस्वी नेता व समाज–सुधारक शिवनाथ शास्त्री के मामा थे। अपने 'आत्मचरित' में, बचपन के कुछ दिन मामा के घर में बिताने का संस्मरण सुनाते हुये शिवनाथ शास्त्री लिखते हैं, "यहाँ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हमेशा ही आते थे, और मेरे मामा के साथ कुछ सलाह–मशविरा करते थे। बाद में सुनने को मिला, 'सोमप्रकाश' नाम से एक अखबार प्रकाशित होगा उसी की बातचीत चल रही है। सन 1858 में 'सोमप्रकाश' अखबार प्रकाशित हुआ।"

'आत्मचरित' सन 1918 में पहली बार प्रकाशित हुआ था। कई वर्षों बाद साधारण ब्रह्मसमाज द्वारा प्रकाशित एक संस्करण में सम्पादक ने मूल ग्रंथ के साथ कुछ संयोजन जोड़ा है। 'सोमप्रकाश, द्वारकानाथ विद्याभूषण एवं शिवनाथ शास्त्री' शीर्षक दूसरे संयोजन में 'द हिन्दू पैट्रियट' अखबार के 9 जनवरी 1865 के अंक में प्रकाशित किसी लेख से 'सोमप्रकाश' के पहले वर्ष के पहले अंक के बारे में लिखी गई बातें उद्धृत की गई है, "The Shome Prakash was first projected by Pundit Eswar Chunder Vidyasaghar, and we believe the first number was written by him." आगे उसी संयोजन में स्वतंत्रता संग्रामी बिपिन चन्द्र पाल रचित 'मेमॉयर्स ऑफ माइ लाइफ ऐन्ड टाइम्स' के पृ0 306–307 से उद्धृत किया गया है, "Somprakash was, however, a professedly political newspaper and it had always been absolutely outspoken in its criticism of public policies and measures."

शिवनाथ शास्त्री अपने दूसरे ग्रंथ 'रामतनु लाहिड़ी ओ तत्कालीन बंगसमाज' में उस समय के बांग्ला अखबारों की स्थिति की चर्चा करते हैं। 'तत्वबोधिनी' पत्रिका मुख्यतः धर्मतत्व की चर्चा करती थी जबकि आपसी गाली–गलौज, भोंडे मजाक आदि की ही प्रधानता थी दूसरे अखबारों या पत्रिकाओं में।

"ऐसे माहौल में सोमप्रकाश का आविर्भाव हुआ। उस दिन की बात हमें अच्छी तरह याद है। इस अखबार को किसने निकाला, इस अखबार को किसने निकाला का शोर मच गया। जितनी ललित भाषा, उतनी ही विषय की गंभीरता। समाचारपत्र के लिये यह एक नया रास्ता था, बंगसाहित्य में एक नये युग का प्रारंभ हुआ।

".....अखबार साप्ताहिक था, वार्षिक शुल्क था दस रुपया, वह भी अग्रिम में देय। फिर भी देखते देखते सारी प्रतियाँ उठ गईं। –सोमप्रकाश के बाद और कई बांग्ला साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित हुई है। भाषा की चमक और रचना की निपुणता और अधिक हुई है, राजनीति की चर्चा कई गुणा बढ़ी है, लेकिन तत्कालीन सोमप्रकाश की जगह कोई नहीं ले पाया है।"

निःसन्देह इस साप्ताहिक पत्र की ऐतिहासिक भूमिका का श्रेय इसके सम्पादक द्वारकानाथ विद्याभूषण को जाता है लेकिन इसकी पूरी प्राथमिक परिकल्पना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की थी। सिर्फ आर्थिक नहीं बल्कि लेखकीय सहयोग भी उन्होने किया।

14 जून 1861 तारीख को 'हिन्दू पैट्रियट' अखबार के योग्य सम्पादक व मालिक एवं भारतीय पत्रकारिता जगत के प्रारम्भिक यशस्वियों में से एक हरीशचन्द्र मुखर्जी का असामयिक निधन हो गया। अखबार पर आये संकट को देख कर बाबू काली प्रसन्न सिंहो ने जो अमीर बाबू होते हुये भी बंगाल के नवजागरण के प्रमुख नामों में से एक हुये – 'हिन्दू पैट्रियट' को छापाखाना सहित पाँच हजार रुपये में खरीद लिया। काली प्रसन्न सिंहो की कालजयी कृति है व्यंगात्मक सामाजिक शब्दचित्रों का संकलन 'हुतोमपेंचार नक्शा' एवं व्यासकृत 'महाभारत' का पहला बांग्ला अनुवाद, जिसके कारण उनका नाम बंगाल के साहित्यिक महकमों में आज भी लोकप्रिय है।

काली प्रसन्न सिंहो कुछ दिनों तक 'हिन्दू पैट्रियट' के घाटे सहे। उसके बाद उन्होने विद्यासागर से बात किया। विद्यासागर ने इसे चलाने का जिम्मा लिया और एक सक्षम आदमी कृष्टोदास पाल को इसका सम्पादक बनाया। कृष्टोदास पाल भी इसके योग्य सम्पादक निकले और आगे इसे चलाते रहे। विद्यासागर के जीवनीकार सुबल चन्द्र मित्र ने सी०ई०बकलैन्ड रचित ग्रंथ 'बेंगॉल अन्डर लेफ्टेनैन्ट गवर्नर्स' से उद्धृत किया है, "जब हरीश चन्द्र मुखर्जी, हिन्दू पैट्रियट के संस्थापक, का दिनांक 14 जून 1861 को निधन हो गया, इसके नये मालिक बाबू कालीप्रसन्न सिंहो, कुछ दिनों तक घाटे सहते हुये इसका प्रबन्धन चलाने के उपरांत इसे पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को सौंप दिये। विद्यासागर

ने 1861 में कृष्टोदास पाल को इसका सम्पादकीय दायित्व निभाने का आमंत्रण दिया और बाद में, जुलाई 1862 में इस अखबार का मालिकाना एक ट्रस्टी संस्था को सौंप दिया। उक्त ट्रस्टियों ने अखबार का प्रबन्धनभार भी कृष्टोदास पाल को दिया जो अपने मृत्यु तक इसके सम्पादक रहे तथा अखबार को प्रभावशाली बनाने के साथ साथ आर्थिक लाभ की ओर ले गये।"

सुबल चन्द्र मित्र आगे लिखते हैं, "कृष्टोदास का उस समय तक लेखक के रूप में कोई ख्याति नहीं थी। किसी को यह एहसास नहीं था कि आगे चल कर ये इतने बड़े लेखक बनेंगे। इसलिये, विद्यासागर द्वारा ऐसे आदमी को सम्पादकीय दायित्व दिया जाना सबको आश्चर्यचकित किया था। लेकिन जल्द ही उन्होने अपनी गलती महसूस की और एक योग्य व्यक्ति के चयन के लिये बुद्धिमान विद्यासागर की भूरी–भूरी प्रशंसा की।" (हालाँकि, आगे चल कर विद्यासागर ने कुछ कारणों से हिन्दू पैट्रियट से खुद को पूर्णतः अलग कर लिया था)।

उद्यमिता के क्षेत्र में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के कदम बिल्कुल क्लासिकीय अर्थ के थे। सिर्फ मुनाफा कमाने के उद्येश्य से कारोबार नहीं बल्कि नई सोच पर कारोबार। संस्कृत प्रेस के माध्यम से उन्होने मातृभाषा में शिक्षा के अपने प्रयासों को बल दिया – पाठ्यपुस्तकों के क्षेत्र में वर्चस्व बनाया, तथा मानक पुस्तक छापे, जिसकी बांग्ला पुस्तक–जगत में कमी थी। सोमप्रकाश के प्रकाशन से उन्होंने बांग्ला पत्रकारिता का नया मानक स्थापित किया, एवं हिन्दु पैट्रियट के पुनः प्रकाशन का इन्तजाम कर उन्होने स्वदेशी अंग्रेजी पत्रकारिता की विरासत को आगे बढ़ाया।

●

vUr d: cgku: þf I Q: fgUn\ß

बंगाल के नवजागरण, उस नवजागरण के शीर्षस्थ सांस्कृतिक प्रतिभाओं या समाज सुधारकों की चर्चा करते हुये आम तौर पर हम शहरी मध्यवर्ग की बात तो करते ही हैं, साथ ही, हम सिर्फ हिन्दू समाज की बात करते हैं। जबकि बंगाली समाज सैंकड़ों वर्षों से हिन्दू, मुसलमान और बौद्ध तीनों धर्मावलम्बियों का समाज तो था ही, यूरोपीय लोगों के आने के बाद उसमें इसाई धर्मावलम्बी भी शामिल हो गये। देश के बँटवारे के पहले जो पूरा बंगाल प्रांत था, उसमें मुसलमान आबादी बहुत बड़ी संख्या में थी। यह कोई संयोग नहीं है कि बंगला काव्य में क्रांति लाने वाले तीन श्रेष्ठतम कवि तीन धर्म के हैं – माइकल मधुसूदन दत्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं काजी नजरुल इसलाम। जबकि, बंगला काव्य की शुरुआत जिस काव्य से माना जाता है, 'चर्यापद' का वह काव्य बौद्ध साहित्य का हिस्सा है एवं उत्तरकालीन–बौद्ध नाथ–योगी सम्प्रदाय के कवियों का रचा हुआ है।

बंगला भाषा एवं बंगाली जीवनधारा के बारे में ढाका बंगला अकादमी के भूतपूर्व महानिदेशक शम्सुज्जमान खाँ सटीक मन्तव्य देते हैं :

"ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि बंगालियों के सोचविचार की धारा का रुपान्तरण पिछले कुछेक वर्षों में एक खास नक्शे के अनुसार हुआ है। स्थानीय नाथ–योगी, तांत्रिक, बाउल–वैष्णव, साधकों के गुप्त साधना के पंथ, चैतन्यदेव का गौड़ीय वैष्णव धर्म–संस्कृति–दर्शन, इस्लाम का सूफीमत एवं मूल धर्मसमूह के भीतर से चुने गये लौकिक बोध व मानव–श्रेष्ठता की वाणी ही विशाल ग्रामीण जनपद के ग्रहण–वर्जन–समन्वय के द्वारा एक जीवनधारा के रूप में विकसित हुई है। मध्ययुग तक राज्यसत्ता के केन्द्रीय नियंत्रण व प्रभाव क्षेत्र से बाहर रहकर आम लोगों ने, अपनी लौकिक हितबुद्धि व समाज निर्माण की जरूरत से इस धारा को चुन लिया। और इस धारा की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हमारी मातृभाषा, बांग्ला।

"समाज व व्यक्तिजीवन के साथ भाषा के इस ओतप्रोत सम्बन्ध के बीच से ही बनती है बंगाल की अपनी, जीवनघनिष्ठ व गहन मानविक एक प्राणवान संस्कृति। यह संस्कृति बंगाली हिन्दुओं की नहीं है, बौद्धों

की नहीं है, इसाई या मुसलमानों की नहीं है — यह संस्कृति सभी बंगालियों की समन्वित संस्कृति है।" भाषा संग्रामेर मध्ये दिये जाति ओ राष्ट्र गठन, शम्मसुज्जामान खाँ, (उत्तर पूर्व 24.कॉम, दिनांक 22.2. 2016)

तो फिर ऐसा क्यों हुआ कि नवजागरण का पूरा विमर्श हिन्दू समाज के भीतर होता हुआ दिखने लगा? कैसे आया यह परिदृश्य?

हम इस परिदृश्य के नेपथ्य पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

दो बात हम पहले ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं। पहला यह, कि किसी भी सामाजिक आह्वान में जनता के अलग अलग तबकों का नाम लेकर जिक्र करना, जैसे 'महिलाओं', 'युवाओं', 'पिछड़ों', दलितों', 'मुसलमानों' आदि... सामाजिक अन्याय के प्रतिकार के आन्दोलन के पनपने एवं आगे बढ़ने के बाद शुरू हुआ है। बाद में पहचान की राजनीति का पुट भी उसमें जुड़ गया हैं। जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं उस समय बंगाल के ग्रामीण समाज में 'हिन्दू' और 'मुसलमान' बस पड़ोसियों के बीच का धार्मिक–सांस्कृतिक फर्क था, विवाद नहीं था। वह फर्क भी शताब्दियों तक साथ जीने के क्रम में बहुत कुछ मिट चुका था। बहुत सारी लोक–धार्मिक परम्पराओं में दोनो समुदाय एक दूसरे के हिस्सेदार बन चुके थे। ऐसे उदाहरण भी मिलते थे कि दोनों समुदाय के लोग साथ बैठ कर एक ही हुक्के से तम्बाकू भी पीते थे कहीं कहीं। समाज के तत्कालीन मध्यवर्गीय या उच्चवित्त नेताओं में भी, 'हिन्दू' और 'मुसलमान' पहचान के बनाये रखने की, मेल–मिलाप को रोक कर, पहचान की स्वतंत्रता को आगे बढ़ाने की कोशिश जरूर थी, लेकिन विवाद शुरु नहीं हुआ था। दूसरी ओर, धर्म के अन्दर जातियों का फर्क भी सामान्यतः सर्वमान्य था, कुछेक कुप्रथाओं को दूर करने हेतु जारी बहस के अलावे बाकी अत्याचार और दमन के सवाल जमीन्दार और रैयत, मालिक और नौकर, अमीर और गरीब के सम्बन्धों के अन्तर्गत थे। — जाति की पहचान सामुदायिक एकजुटता के तौर पर जरूर उभर चुकी थी, लेकिन अन्तरजातीय विवाद या संघर्ष के उदाहरण कम थे।

दूसरा, बेशक हिन्दू कॉलेज प्रेसिडेन्सी कॉलेज बनने से पहले तक सिर्फ हिन्दुओं के लिये था और मुसलमानों के लिये कलकत्ता मदरसा था (जैसा कि पहले कहा गया है उस समय के कॉलेज आज के जैसे नहीं थे। उनमें निचली कक्षायें भी शामिल होती थीं। इसलिये

कलकत्ता मदरसा और हिन्दू कॉलेज के पाठ्यक्रम में दर्जे का अन्तर नहीं था, हाँ, बनावट का अन्तर था) — संस्कृत कॉलेज तो बनाया ही गया था प्राचीन हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन को सक्षम पंडितों को तैयार करने के लिये — लेकिन, विद्यासागर द्वारा खोले गये आदर्श बंग विद्यालय या अंग्रेज सरकार के 'मॉडल स्कूल' सभी के लिये थे। सभी धर्मों के लिये एवं सभी जातियों के लिये। उनके अपने पैसे से पैत्रिक गाँव वीरसिंहो में खोले गये विद्यालय या चरवाहों एवं अन्य श्रमजीवियों के लिये खोले गये रात्रि–विद्यालय में भी जाति या धर्म आधारित कोई भेदभाव नहीं था, बल्कि वे पूर्णतः निःशुल्क थे, जबकि सरकारी आदर्श बंग विद्यालयों में शुल्क लगता था। हाँ, ये आदर्श विद्यालय दो मायनों में अलग थे। उसके पहले से चले आ रहे मिशनरी या निजी विद्यालयों में पठन का माध्यम मुख्यतः अंग्रेजी थी, कुछ बांग्ला भी चलता था, आदर्श बंग विद्यालयों में पठन का माध्यम थी मातृभाषा। दूसरी ओर, कभी सरकार द्वारा स्वीकृत 'पाठशालाओं' का पाठ्यक्रम निचले दर्जे का था। बंग विद्यालयों का पाठ्यक्रम, विद्यासागर द्वारा बनाया गया एवं उच्च दर्जे का था। अब एक उद्धरण से शायद धार्मिक समुदायों की भागीदारी की स्थिति स्पष्ट होगी :

"सरकार द्वारा प्रत्यक्षतः प्रबन्धित विद्यालयों के वर्ष 1856–57 के प्रतिवेदन में दिये गये आँकड़ों का अगर विश्लेषण किया जाय तो दिखेगा कि बंगाल में कुल 5303 विद्यार्थियों में 4612 हिन्दू थे, 689 मुसलमान और 2 इसाई थे। सरकारी निरीक्षण के अन्तर्गत एवं अनुदान प्राप्त करने वाले विद्यालय दो किस्म के थे — एक, अंग्रेजी और बंगला पढ़ाने वाले और दूसरे, सिर्फ बंगला पढ़ाने वाले। पहले किस्म के 70 विद्यालयों में 8175 विद्यार्थी थे जिनमें 7806 हिन्दू थे, 349 मुसलमान और 20 हिन्दू या मुसलमान से अलग। दूसरे किस्म के, सिर्फ बंगला पढ़ाने वाले, 114 विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या थी 7169, जिनमें 6559 थे हिन्दू, 548 मुसलमान एवं 62 मुसलमान या हिन्दू से अलग। यह गौरतलब है कि अनुदान की व्यवस्था के अन्तर्गत चलने वाले 184 विद्यालयों में आधे से अधिक कलकत्ता के अन्दर या आसपास में बने हुये थे। इस तरह, बंगाल में इन तमाम किस्म के विद्यालयों में विद्यार्थियों की कुल संख्या थी 20,647, जिनमें हिन्दू थे 18,977, मुसलमान थे 1586 एवं 84 इन दोनों

समुदायों से अलग।" [British Policy and the Muslims in Bengal 1757&1856] Azizur Rahman Mallick, 2nd Edition, June 1977, Bangla Academy, Dhaka, P- 373]

यानि, अंग्रेज सरकार के शिक्षा प्रशासन के अन्दर चलती विचारधाराओं की बहस तथा हिन्दू मुसलमान दोनो तबकों के सम्पन्न वर्गों की अलगाववादी पेशकश के नतीजे में बनी शिक्षा प्रणाली में संस्कृत शास्त्र पढ़ाने वाले सिर्फ हिन्दू छात्रों की संस्थायें भी थी, अरबी–फारसी पढ़ाने वाली सिर्फ मुसलमान छात्रों की संस्थायें भी थीं, और इन दोनों से अलग तीन तरीके के आम विद्यालय थे, मिशनरी विद्यालय, निजी (सरकारी अनुदान प्राप्त या अप्राप्त) विद्यालय एवं पूर्णतः सरकारी विद्यालय जहाँ, पढ़ाई चाहे अंग्रेजी में हो या बंगला में, थे सबके लिये।

बल्कि हिन्दू और मुसलमान दोनों तबके के शिक्षाविदों की संयुक्त कोशिशें भी थीं, शिक्षा को आम जनता तक पहुँचाने के लिये। प्रख्यात इतिहासविद अमलेन्दु दे अपने शोधग्रंथ 'रूट्स ऑफ सेपरेटिज्म इन नाइन्टिंथ सेन्चुरी बेंगॉल' में लिखते हैं:

"उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ हिन्दू–मुसलमान संयुक्त प्रयास हुये थे। मृत्यजय विद्यालंकार एवं राधाकान्त देव के साथ मौलवी करम हुसैन, मौलवी अब्दुक वाहेद एवं मौलवी मुहम्मद अमिनुल्लाह भी कैलकाटा स्कूल बुक सोसायटी (1817) से जुड़े हुये थे, यह सोसायटी छात्रों को बंगला एवं अंग्रेजी में पाठ्यपुस्तकों मुहैया कराने के लिये स्थापित किया गया था। ....इस सोसायटी के अलावा चार मुसलमान कैलकाटा स्कूल सोसायटी (1818) के प्रबंधन समिति में भी शामिल किये गये थे। बेशक वे अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस सोसायटी के पहल पर जो पाठशालायें स्थापित किये गये थे वहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म के छात्र पाठ लेते थे, हालांकि हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों से अधिक थी।" [Amalendu De, Roots of Separatism in Nineteenth Century Bengal, Ratna Prakashan 1974, P-3].

तो फिर, बात क्या थी? क्यों बंगाल के नवजागरण पर चर्चा में सिर्फ हिन्दू समाज सुधार, हिन्दू समाज सुधारक, लेखक पत्रकार, शिक्षाविद या साहित्यकारों के नाम आते हैं? क्यों मुसलमान आबादी, बंगाल की पूरी आबादी (बँटवारे से पूर्व) का आधा (कभी कभी आधा से अधिक) होने

के बावजूद न तो समकालीन कोई मुसलमान समाज सुधारक, विद्वान, शिक्षाविद या लेखक का नाम नवजागरण के विमर्श में शामिल होता है और न ही मुसलमान छात्रों की संख्या उनकी आबादी का समानुपात होते हुये दिखती है? इसका उत्तर इतिहास में है। कुछ तो उन्ही किताबों में है जिनसे उपर की उद्धृतियाँ ली गई हैं और कुछ अन्य किताबों में हैं।

संक्षेप में, इन प्रश्नों के उत्तर 19वीं सदी से पहले के दो घटनाक्रमों से जुड़े हैं। पहले घटनाक्रम का थोड़ा लम्बा इतिहास है। उपर में शम्सुज्जमान खाँ के जिस निबंध से उद्धरण लिया गया है उसी निबंध में वह आगे चल कर कहते हैं:

"सोलहवीं सदी में ही बांग्ला भाषा एवं बंगालियों का समन्वित राष्ट्रनिर्माण का प्रयास फिर से राज्यसत्ता के कारण बाधित हुआ। सम्राट अकबर के समय बंगाल का इलाका 'सूबे बंगला' के नाम से केन्द्रीय शासन के अधीन में आ गया। अकबर के जमाने की भूमिनीति कॉर्नवालिस के स्थाई बन्दोबस्त के ही अनुरूप थी। इस नीति के कारण जिस अभिजात वर्ग का जन्म हुआ उसके मुसलमान हिस्से ने उत्तर भारतीय संस्कृति के प्रभाव में बंगाल के मुसलमानों को अशरफ एवं अतरफ दो भागों में बाँट दिया। और कहा गया कि अशरफ बंगाली मुसलमानों की मातृभाषा है उर्दू।"

ऐसी ही एक परिस्थिति में आई इस्ट इन्डिया कम्पनी और कायम हुआ अंग्रेजों का शासन। मुसलमान शासक सत्ता से बाहर हो गये। सेना और प्रशासन से नियंत्रण हट गया। धीरे धीरे प्रशासन में अंग्रेजी ने अरबी, फारसी की जगह ले ली। दूसरी ओर, जो हिन्दू अधिकारी पूर्व के बादशाही प्रशासन में, खासकर आर्थिक विभागों में थे वे जल्द अंग्रेजी सरकारी प्रशासन में जगह बना लिये। बड़े भूमि मालिकों में अच्छी तादाद तो उनकी पहले भी थी। फिर आया स्थाई बन्दोबस्त। नये बने जमीन्दारों के अधिकांश थे हिन्दू। अमलेन्दु दे लिखते हैं '' नब्बे प्रतिशत जमींदार हिन्दू थे जबकि आबादी बराबर बराबर की थी (सन 1881 के मर्दुमशुमारी के अनुसार तो मुसलमान जनसंख्या हिन्दुओं से कुछेक हजार अधिक थी)। व्यापार और बैंकों की मिल्कियत हिन्दुओं के हाथों में थी। नागरिक प्रशासन में भी हिन्दू थे। उन पर बादशाही शासन जाने और कम्पनी शासन के आने का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा।''

ऐसी परिस्थिति में जब कम्पनी शासन और नई जमीन्दारी या सामन्ती शोषण के खिलाफ किसानों, रैयतों, कारीगरों और बादशाही फौज से बड़ी तादाद में बेरोजगार हुये (उपरोक्त पुस्तक में अमलेन्दु दे यह संख्या बीस लाख की बताते हैं) फौजियों ने जगह जगह बगावत शुरू किया तो उन बगावतों में बड़ी संख्या में मुसलमान ही थे। जिस सन्यासी विद्रोह पर बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने आनन्दमठ लिखा वह सन्यासी विद्रोह भी वास्तव में सन्यासी–फकीर विद्रोह था और भवानी पाठक और उनके दल से पहले और अधिक बड़े पैमाने पर थे मजनू शाह, उनके चेले और उनका दल (देखिये अयोध्या सिंह रचित 'भारत का मुक्तिसंग्राम')। अंग्रेजों के विरोध में हो रहे बगावतों में आम मुसलमान इतनी अधिक संख्या में थे कि सन 1871 में डब्ल्यु० डब्ल्यु० हन्टर की जो किताब आई 'द इन्डियन मुसलमान्स', उसके पहले संस्करण का उपशीर्षक ही था 'आर दे बाउन्ड इन कॉनसायन्स टू रिबेल अगेन्स्ट द क्वीन?' (क्या वे रानी के खिलाफ बगावत करने को अपने विवेक से प्रतिबद्ध हैं?)

दूसरी ओर, इन बगावतों के नेतृत्व में स्वाभाविक तौर पर जैसे हिन्दू सन्यासी आये, मुसलमान फकीर आये उसी तरह इसलामी कट्टरता की ओर ले जाने वाली ताकतें भी बड़ी तादाद में आ गई। फराइजी आन्दोलन कुछ भी गैर–इस्लामी को छोड़ने का निर्देश दिया और अंग्रेजी सीखना या बंगला को मातृभाषा मानना दोनों उनके लिये गैर–इस्लामी था। दूसरी ओर वहाबी आन्दोलन धार्मिक कट्टरता के रास्ते पर चलते हुये भी सन 1857 के गदर को देखते हुये अंग्रेजों के खिलाफ जिहाद का आह्वान कर दिया। शहरी मध्यवर्ग या सम्पन्न वर्ग के मुसलमानों का बड़ा हिस्सा खुद अंग्रेज–विरोध में हिस्सा न लेते हुये भी अधमने कदम से आगे बढ़ रहे थे। जिस रास्ते पर वे खुद चल रहे हैं, इसी रास्ते पर जनता भी चले, ऐसा खुला आह्वान वे दे नहीं पा रहे थे। शायद कुछेक को यह भी लग रहा होगा कि जो गाँव गाँव में विरोध व वगावत हो रहे हैं, ये शायद अंग्रेजों के साथ लेनदेन में उनकी ताकत को बढ़ायेंगे। बस दो–चार मुसलमान विद्वानों की आवाजें मिलती हैं उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध या मध्य में जो आधुनिक शिक्षा को मुसलमान जनता के बीच फैलाने की बात करते हैं, अंग्रेजी शिक्षा की बात करते हैं, आधुनिक पाठ्यक्रम की बात करते हैं या, अपनी मातृभाषा को बांग्ला बताते हुये

मातृभाषाई शिक्षा–प्रणाली (वर्नाकुलर एजुकेशन) में सब को शामिल होने के लिये आह्वान करते हैं।

यही कारण थे कि आधुनिक शिक्षा, आधुनिक ज्ञान, आधुनिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक सुधार के रास्ते पर बंगाल के मुसलमान हिन्दुओं से पिछड़ते चले गये और बंगाल के नवजागरण के प्रारंभिक इतिहास–कथा में मुसलमान शिक्षाविद, समाज–सुधारक, लेखक, कवि या बड़े, प्रभावी बुद्धिजीवी नहीं दिखते हैं।

उनमें यह जागरूकता उन्नीसवीं सदी के अन्त में दिखाई पड़ी। पूरे उत्तर–भारतीय मुसलमान समाज के लिये जिस तरह शिक्षा व सुधार के बड़े प्रवक्ता सर सैयद अहमद खाँ (1817 – 1898) आये, मुसलमान नारी की शिक्षा और सामाजिक जड़ता से मुक्ति की दिशा में बीसवीं सदी की शुरुआत के बंगाल में बेगम रोकेया सखावत हुसैन (1880–1932) ने जो आत्मत्याग और संघर्ष का उदाहरण पेश किया उसे देखते हुये आज हम उन्हे 'रोकेया माता' की संज्ञा देते हैं, उन्हे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की सबसे महान शिष्या मानते हैं। बांग्लादेश के प्रख्यात विद्वान अहमद शरीफ ने लिखाः

"बंगाली मुसलमान समाज में एक भी, राममोहन की तरह संशयवादी, अन्तरराष्ट्रीय चेतना से लैस कर्मयोगी या विद्यासागर की तरह मानवहितवादी, नास्तिक, जुझारू पुरूष का जन्म नहीं हुआ। शायद जिस प्रकार के समय की जरूरत पर राममोहन–विद्यासागर का आविर्भाव हुआ, प्रतीच्य–चेतना से विमुख मुसलमान समाज को उस प्रकार के समय का एहसास नहीं हुआ। या, राममोहन–विद्यासागर ने समाज के लिये जो कुछ किया, उन कामों ने, जागरण का पल आने पर, प्रतीच्य ज्ञानप्राप्त मुसलमान समाज को भी दिशा दिखाया था। कौन अस्वीकार करेगा कि अनुगामियों के लिये चलने का रास्ता मार्गनिर्माताओं से अधिक स्वच्छंद होता है। बंगाली मुसलमान अपने पड़ोसी के पीछे चलने वाला था इसीलिये अनायास ही कई समस्याओं का समाधान अनुकरण द्वारा पा गया था। फिर भी, शायद सवाल रह जाता है – राममोहन एवं विद्यासागर की तरह काल–प्रत्याशित, मुक्तचित्त–द्रोही एवं नास्तिक– मानववादी की अनुपस्थिति, मुसलमान समाज के लिये सौभाग्य था या दुर्भाग्य?" [विद्यासागर, अहमद शरीफ, पथिकृत पत्रिका, ईश्वरचन्द्र विशेष संख्या, अक्तूबर 1991] ●

l;ktu

djekVkM d fo|klkxj

पटना–कोलकाता मेन लाईन पर एक्स्प्रेस ट्रेनें आम तौर पर मधुपुर के बाद सीधा जामताड़ा में रुकती हैं। बीच में एक स्टेशन है विद्यासागर। आज से चार दशक पहले इस स्टेशन का नाम था करमाटाँड़। कस्बा आज भी करमाटाँड़ के नाम से ही जाना जाता है। सवारी और कुछ एक्सप्रेस गाड़ियाँ रुकती हैं। बसें आती हैं जामताड़ा से। इसी कस्बें में स्टेशन से थोड़ी ही दूरी पर है एक बड़ा सा अहाता। टूटे हुए (अब बंद हो चुका है यह पुराना प्रवेश द्वार, दूसरी ओर से बड़ा और नया प्रवेश द्वार खुल चुका है।) प्रवेश–द्वार के दाहिने खंभे पर संगमरमर का छोटा सा फलक लगा है 'नन्दन कानन'। अन्दर प्रवेश करने पर देखेंगे कि चारदीवारी से घिरी फैली हुई जमीन पर जहाँ तहाँ दो–चार घर–मकान खड़े हैं। दो तीन जो नये हैं आप देखने से ही समझ जायेंगे। दो पुराने हैं। एक, घुसते ही बाँये और दूसरा बिल्कुल नाक की सीध पर, अहाते के बीचोबीच। यह दूसरावाला ढाँचा ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का बंगला, या निवास–भवन है। इसमें कुल 11 कमरे थे। इस दूसरे वाले ढाँचे के अन्दर एक कमरे में अभी भी विद्यासागर जिस पर सोते थे वह पलंग रखा है – बांग्ला भाषा के गुरु पंडित ईश्वरचन्द विद्यासागर के इस कर्मभूमि के दर्शन को आने वाले लोग इस पलंग को स्पर्श कर प्रणाम करते हैं।

बांग्ला साहित्यजगत में बहुत बड़े विद्वान के रूप में प्रसिद्ध हुये महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री। वे विद्यासागर के बहुत करीबी शिष्य थे। 'चर्यापद' की बौद्ध गीतिकाओं का इन्होने आविष्कार किया, जिससे हम बांग्ला का प्राचीनतम स्वरूप जान पाये। तो यह शास्त्रीजी एक बार करमाटाँड़ गये थे। उन्हीं की जबानी सुनिये करमाटाँड़ी विद्यासागर के वारे में।

''हमलोग करमाटाँड़ पहुँच कर अपना सामान वगैरह स्टेशनमास्टर के जिम्मे में रख कर विद्यासागर महाशय के बंगले में गये। तीन बजे के बाद गाड़ी पहुँची थी – शाम तक गपशप में बीत गया।

"मैं लखनऊ जा रहा हूँ संस्कृत पढ़ाने, एम०ए० क्लास को भी पढ़ाना होगा , खास कर 'हर्षचरित' पूरा पढ़ाना होगा, सुन कर थोड़ा चिन्तित हुये, बोले बहुत कठिन है यह पुस्तक। उन्होने खुद ही इस पुस्तक का आठ फर्मा छपवाया था और पहले ही मुझे दिया था कलकत्ता में। उन्होने कहा– बाकी हिस्से में झमेला है। मैंने कहा, राजकुमार सर्वाधिकारी महाशय कहते हैं कि इसका संस्कृत बड़ा कच्चा है। उन्होने कहा, अच्छा! राजकुमार इतना बड़ा पंडित हो गया है? कच्चा और पक्का संस्कृत की पहचान कर लेता है? खैर, उन्होने मुझे हर्षचरित एवं दूसरे पुस्तकों को पढ़ाने का कुछ कुछ कौशल बता दिया जिससे मुझे काफी उपकार मिला था।''

"अगले दिन बाहर आकर जिस घर में प्रवेश हुआ, दिखा कि ... विद्यासागर महाशय बरामदे में चलफिर रहे हैं और बीच बीच में टेबुल पर जाकर 'कथामाला' या 'बोधोदय' का प्रुफ देख रहे हैं। प्रुफ में खूब काट–कूट कर रहे हैं। जिस तरह प्रुफ सब पड़ा था, देखने से लगा कि वह रात को भी प्रुफ देखते रहे हैं। मैंने पूछा 'कथामाला' का प्रूफ आप क्यों देखते हैं? और रात में जग कर भी देखते हैं, क्यों? उन्होने कहा . –भाषा एक ऐसी चीज है, किसी भी तरह मन स्पष्ट नहीं होता है, शायद कोई दूसरा शब्द मिलने से बेहतर होता ......इसीलिये बार बार काटकूट करता हूँ। मैंने सोचा, बाप रे! इस बूढ़े उम्र में भी बांग्ला इडियम पर इतनी नजर!

"धूप निकलते निकलते एक संथाल पाँच–छह भुट्टा लेकर आ गया। बोला ''ओ बिद्देसागर, पाँच गन्डा पैसा नहीं मिलेगा तो बच्चे का इलाज नहीं होगा, तु ई भुट्टा रख और पाँच गन्डा पैसा दे हमको।'' विद्यासागर महाशय तत्काल पाँच आना पैसा देकर भुट्टे ले लिये और अपने हाथों से ताख पर उठा कर रख दिये। फिर और एक संथाल आया, उसके टोकरे में बहुत सारे भुट्टे थे, उसने कहा, मुझे आठ आने की जरूरत है। विद्यासागर आठ आना देकर उसका टोकरा खरीद लिये। मैंने कहा, वाह क्या अद्भुत बात है! खरीदने वाला मोल नहीं करता है, मोल करता है वह जो बेच रहा है। विद्यासागर महाशय थोड़ा मुस्कुराये। उसके बाद मैंने देखा कि जो जितना भी भुट्टा ला रहा है और जो भी दाम

कह रहा है, विद्यासागर महाशय उसी दाम में भुट्टे खरीद रहे हैं और ताख पर रखे जा रहे हैं। आठ बजे तक चारो तरफ का ताख भर गया लेकिन भुट्टा खरीदना बन्द नहीं हुआ। मैंने पूछा, इतने सारे भुट्टे लेकर आप करेंगे क्या? उन्होने कहा, खुद ही देख लोगे। इसी तरह भुट्टा खरीदना जारी था तभी बीस–बाइस साल की दो संथाल युवती आकर आंगन में खड़ी हुई। बोली, ओ बिदेसागर, कुछ खाने को दे हमलोगों को। दोनों आंगन में ही दौड़ादौड़ी मचाती रही, बरामदे पर नहीं चढ़ी। मैंने कहा, वे कुछ खाने को मांग रही है, आप इतने सारे मोतिचुर के लड्डु, छेने की मिठाई मंगाये हैं, दीजिये उसी में से दो–एक। उन्होने कहा, धत, वे न स्वाद जानती है न रस जानती है। बस खाद्य होना चाहिये, स्वादिष्ट खाना वे नही समझती है। उसके लिये फिर दूसरे किस्म के लोग हैं। यहाँ से एक कोस दूर कोरा नाम का एक गाँव है जहाँ एक मराठी राजा है। बर्गियों के हंगामे के समय उसने यहाँ छोटामोटा एक राज बसाया। अभी भी वहाँ बहुत सारे मराठी हैं, ब्राह्मण हैं, दूसरे जात भी हैं। लेकिन संथालों के साथ रह कर संथाल जैसे हो गये हैं। उन्हे स्वादिष्ट चीजें देने पर वे एक कौर खा कर जाँचते हैं, पूछते हैं किन किन चीजों से बना है, कहाँ से मंगाया गया है, तब मैं समझता हूँ कि उनके जीभ हैं। और इनका कुछ भी नहीं है। मुड़ी–चुड़ा जिस तरह खाती है, सन्देश–रसगुल्ला भी उसी तरह खाती है।

"मेरे कहने पर मोतीचूर–छेनाबड़ा नहीं दिये तो मैंने कहा, एक काम करता हूँ, मेरे साथ परसों की पकाई हुई कुछ पूड़ियाँ हैं, वो इन्हे दे देता हूँ। उन्होने कहा, है तेरे साथ? कहाँ, देखूँ। मैं दौड़ कर स्टेशन गया, गठरी खोल कर केले के पत्ते में बंधी लगभग दो दर्जन पूड़ियाँ ले आया। कहा, दो दिनों से बंधी हुई है, पत्ते भी पसीज गये हैं और पूड़ियों में केले के पत्ते का महक चढ़ गया है। बोल कर लड़कियों को देने जा रहा था, विद्यासागर महाशय बोले, मुझे दे, उन्हे इस तरह दिया जाता है क्या ? बोल कर पूड़ियों को केले के पत्ते से खोल कर थोड़ी देर के लिये हवा में रख दिये। फिर बोले, देख अब महक नहीं है। बीच से चार पूड़ी निकालकर वह सावधानी के साथ उठाकर रख दिये। मैंने पूछा, यह क्या कर रहे हैं? वह बोले, खाऊंगा रे। तेरी मां के हाथों की तली हुई है? मैंने

कहा, नहीं, बड़ी बहू की। वह बोले, तब तो और भी अच्छा है। नन्दकुमार न्यायचंचु की विधवा पत्नी की? नन्दु मेरा बड़ा प्रियपात्र था। उसके बाद ऊपर से दो पूड़ी उठा कर संथालनियों की ओर बढ़ाये। वे गपागप खा गई। विद्यासागर बोले, देखा तुमने? वे न स्वाद समझती है न रस!

"भुट्टा खरीदना जारी रहा। किसी दूसरे काम से गया था, लौट कर देखा विद्यासागर नहीं हैं। सारे कमरे छान मारे – नहीं हैं, रसोईघर में नहीं हैं, बगीचे में नहीं हैं, अन्त में बगीचे के पीछे एक दरवाजा देखा खुला है, लगा यहीं से निकले होंगे, तो वहीं खड़ा रहा। थोड़ी देर के बाद देखा तो खेतों के बीच से एक मेड़ पर विद्यासागर महाशय तेज कदमों से चले आ रहे हैं, बदन पसीने से लथपथ है, एक पत्थर का कटोरा है हाथ में। मुझे खड़ा देख कर पूछे, तू यहाँ क्यों? मैंने कहा, आप ही को ढूंढ़ रहा था, कहाँ गये थे ? वह बोले, अरे थोड़ी देर पहले एक संथालनी आई थी। बोली, '' बिद्येसागर, मेरे बच्चे की नाक से हलहल खून गिर रहा है, तू अगर आये, बचाये उसको। उसी लिये मैं एक होमिओपैथिक दवा इस कटोरे में ले गया था। अद्भुत, देखा कि एक खुराक दवा से उसका खून गिरना बन्द हो गया। ये लोग अधिक दवा तो खाते नहीं, इसलिये थोड़ी सी दवा का भी उपकार मिलता है। कलकत्ता के लोगों का तो दवा खा खा कर पेट में रेत जम गया है, काफी मात्रा में दवा नहीं देने पर उन्हे उपकार नहीं मिलता।'' मैंने पूछा, कितनी दूर गये थे ? वह बोले, वह जो गाँव दिख रहा है, डेढ़ मील होगा। मैं पहले से जानता था कि विद्यासागर महाशय खूब पैदल चल सकते थे।

" बंगले में आकर देखा सामने का आंगन संथाल लोगों से भर गया है.... मर्द, औरत, बच्चे, बूढ़े सभी उम्र के संथाल। वे लोग झुंड में बैठे हैं, कहीं पाँच, कहीं आठ, कहीं दस। हर झुंड के बीच कुछ सूखे पत्ते और लकड़ी। विद्यासागर को देखते ही सारे बोल उठे, ओ बिद्येसागर, खाने को दे। विद्यासागर भुट्टा बाँटने बैठे। वे लोग उस सूखे पत्ते और लकड़ी में आग सुलगा रहे थे, उसमें भुट्टे सेंक रहे थे, और खा रहे थे .... क्या मस्ती थी। फिर मांगते रहे ....किसी ने दो, किसी ने तीन, किसी ने चार भुट्टे खा लिये। ताख पर रखे भुट्टे लगभग खत्म होने को आये। वे उठ कर बोले, खूब खिलाया तूने बिद्येसागर। फिर जाने लगे। विद्यासागर

बरामदे में खड़ा होकर देखने लगे। मैं भी विस्मय से देखते हुये सोचने लगा कि शायद यह दृश्य फिर कभी नहीं देख पाऊंगा।"

जो पहला ढाँचा प्रवेशद्वार से बाँये है उसका नाम है भगवती भवन, विद्यासागर की माँ के नाम पर। इसे 1994 में कलकत्ता स्थित 'विश्वकोष परिषद' एवं 'पथेर पाँचाली' संस्था के आर्थिक सहयोग से बनाया गया। थोड़ा आगे बढने पर बांयी ओर विद्यासागर की प्रतिमा दिखेगी ––ठीक उसी जगह पर जहाँ वह शाम को बैठते थे। इस प्रतिमा को बिहार बंगाली समिति ने 1993 में बनवाया। पटना के प्रख्यात वकील श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने इसके खर्च का भार उठाया था। पटना उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश बिमल चन्द्र बसाक ने इसका अनावरण किया था।

वर्ष 1994 में विद्यालय के लिये भी एक भवन का निर्माण अधूरे तौर पर किया गया, स्थानीय विधायक शशांक शेखर भोक्ता के 'विधायक फंड' से। उसी साल पश्चिम बंगाल सरकार के खेल व परिवहन मंत्री सुभाष चक्रवर्ती ने विद्यालय चलाने के लिये एक लाख रुपये दिये।

बाकी ढाँचे भी उसके बाद बिहार या झारखंड की बंगाली समिति या उसकी जमशेदपुर इकाई एवं कई व्यक्तियों के अनुदानों से बने। इनमें उल्लेखनीय है झारखंड के सांसद एवं भूतपूर्व मुख्यमंत्री शिबू सोरेन के एम०पी०फन्ड से विद्यालय भवन निर्माण के लिये चार लाख रुपये, रमला चक्रवर्ती, 'पथेर पाँचाली' की ओर से विद्यालय अमानत कोष में पाँच लाख रुपये, होमिओपैथी चिकित्सालय का घर बनाने के लिये जमशेदपुर निवासी चमेली चटर्जी द्वारा चालीस हजार रुपये तथा चिकित्सालय की दवाओं के लिये पार्वती किंकर राय द्वारा दस हजार रुपये। चारदीवारी भी कई व्यक्तियों या परिवारों के दस–दस हजार रूपये या उससे अधिक के अनुदानों से बने।

बिहार के विभाजन के बाद बिहार बंगाली समिति एवं झारखंड बंगाली समिति ने संयुक्त तौर पर नये रूप में विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति का निर्माण किया है। उसके अन्तर्गत एक नन्दन कानन परिचालन समिति भी बनाया है।

इधर के दो वर्षों में पूरे परिसर की सफाई हुई है, भीतर के सभी पैदल चलने वाले रास्तों को नया बनाया गया है, पहले बनाये गये एक विश्राम भवन को सभा भवन के रूप में रुपान्तरित किया गया है। पुराने प्रवेश द्वार को बन्द कर दूसरी ओर नया प्रवेश द्वार बनाया गया है ताकि गाड़ियाँ परिसर तक पहुँच सके। झारखन्ड सरकार ने परिसर के सौंन्दर्यीकरण की कुछ योजना बनाई है। विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति तथा विद्यासागर द्विशत जन्मवार्षिकी–नन्दनकानन समारोह समिति विद्यासागर के द्विशत–जन्मवार्षिकी को दो वर्षों तक मनाने की तैयारी कर रही है।

एक निःशुल्क होम्योपैथिक चिकित्सालय अभी भी चल रहा है। एक बालिका विद्यालय चलाया जा रहा था जिसे पैसों के अभाव में कुछ दिनों के लिये बन्द कर दिया गया। अब फिर नये तरीके से चलने वाला एक स्कूल खोले जाने की बात चल रही है। आगे इस भाषातीर्थ को विकसित करने की कई योजनायें हैं। कोष के अभाव के कारण उन योजनाओं पर काम आगे नहीं बढ़ पा रहा है।

बामियान की बुद्धमूर्ति को मॉर्टर से ध्वस्त किये जाने या मेसोपोटामिया की सभ्यता के समय के शिल्प और ग्रंथागार को मिट्टी में मिला दिये जाने की डींग हाँकने वाले जमाने में बिहार व झारखंड के बांग्लाभाषियों की दो समितियाँ अर्थाभाव के बीच ही कोशिश कर रही है कि नन्दन कानन को एक धरोहर, एक भाषातीर्थ के रूप में विकसित किया जाय। इस तीर्थ की खोज की कहानी इस प्रकार है।

"कर्माटाँड़ में विद्यासागर के मकान का पता हमें कलकत्ता विश्वविद्यालय के कूलपति डा० सत्येन सेन से मिला। डा० सेन विश्वविद्यालय के काम से पटना आये थे 70 के दशक की शुरुआत में। यहाँ रुके थे, अपने रिश्तेदार एवं पटना के सुविख्यात डाक्टर अजीत कुमार सेन, के घर में [अजीत सेन यानि ए० के० सेन या सेनसाहब जो कभी पटना के विधायक भी थे – वर्तमान लेखक], डाक्टर सेन ने एक दिन मुझे बुलवाया सत्येन सेन से भैंट करने के लिये। सत्येनबाबू ने विद्यासागर स्मृतिरक्षा, वयस्क शिक्षा आदि के कामों में हमारी सहयोगिता मांगी। उनकी अध्यक्षता में पश्चिम बंगाल में उस समय साक्षरता अभियान,

विद्यासागर के रचनाओं के संग्रह का प्रकाशन आदि का काम चल रहा था। बातचीत के दौरान उन्होने बताया कि विद्यासागर की स्मृति को संजोये रखने लायक कुछ भी अब नहीं बचा है। कलकत्ता के घर दूसरे लोगों के हाथों में चला गया है ....उन्हें अब निश्चित तौर पर चिन्हित करना भी संभव नहीं हो पा रहा है। वीरसिंहो [उनका जन्मस्थल..... व०ले०], का घर, विद्यालय आदि ध्वस्त हो गया है। बचा है सिर्फ कर्माटाँड़ का घर। हालाँकि उसका मालिकाना अभी दूसरे लोगों के हाथ में है। कर्माटाँड़ के घर के साथ विद्यासागर की बहुत सारी स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। इसी घर से उन्होने भारत में पहली बार वयस्क एवं नारी शिक्षा, होमियो–चिकित्सा आदि काम प्रारंभ किया था।

"डाक्टर सेन को मैंने कहा कि इस काम का उद्यम बिहार बंगाली समिति ले, इसके लिये कोशिश की जा सकती है। बंगाली समिति के सर्वमान्य नेता डाक्टर शरदिन्दू घोषाल [पटना के दंतकथाओं में शामिल हो चुके हैं घोषाल डाक्टर, जिनकी बहुत सारी मजेदार कहानियाँ अभी भी चर्चे में आ जाती हैं ....व०ले०], को राजी कराने पर काम होने की उम्मीद है। सुन कर डाक्टर सेन ने तत्काल अपने गुरू डाक्टर घोषाल को फोन किया और फिर मुझे भेज दिया उनके पास विस्तार से बातचीत के लिये। घोषाल साहब को कई सारे तर्कों के सहारे राजी कराया गया। तय हुआ कि बंगाली समिति को इस काम के साथ जोड़ा जायेगा। समिति के नये स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार बिहार में बांग्ला शिक्षा को फिर से पटरी पर लाने से सम्बन्धित कामों को कर्माटाँड़ एवं विद्यासागर स्मृति–रक्षा को केन्द्र में रख कर क्रियान्वित किया जायेगा। उन्होने मुझे एवं नरेन मुखर्जी को कर्माटाँड़ जाकर इस दिशा में विस्तृत रूप से जाँचपड़ताल करने को कहा। उन्होने यह भी खबर लिया कि कर्माटाँड़ में रेलस्टेशन तो है पर पटना से जाने वाली कोई भी ट्रेन वहाँ रुकती नहीं है। इसीलिये नरेन मुखर्जी की गाड़ी पर ही कर्माटाँड़–अभियान का जिम्मा उन्होने हम दोनों को दिया। पॉकेट में 300/– रुपये ठूँस कर कहा ....यह रहा पेट्रॉल का खर्च ।"...... ['बिहार में विद्यासागर एवं वर्णपरिचय', गुरूचरण सामन्तो, प्रतर्क, पौष 1412 (दिसम्बर 2005) में प्रकाशित]

गाड़ी का रास्ता भी टेढ़ा था उस समय। जसीडीह, दुमका, मिहिजाम, जामताड़ा होकर कर्माटाँड़ पहुँचा जा सकता था। आगे सुनिये नरेन मुखर्जी की जबानीः

"डाक्टर एस० एम० घोषाल के निर्देशानुसार अधोहस्ताक्षरी एवं प्रो० गुरूचरण सामन्तो दिनांक 20०9०72 को पटना से रवाना हुये। 20 तारीख की रात को हम दुमका में रुक गये। 21 को जामताड़ा के लिये रवाना होकर 23 तक वहीं रुक गये। 21 को मिहिजाम जाकर हमने विद्यासागर के मकान के बारे में खोजबीन की पर निराशा ही हाथ लगी।

"22 तारीख की शाम को हम कर्माटाँड़ गये। स्टेशन–मास्टर श्री शिवदास मुखर्जी से मिले जिन्होने काफी सहयोग किया। रेलवे स्टेशन के करीब हम श्री रमा रंजन दत्ता से उनके फार्मेसी में मिले और उनसे जानकारी लेते समय श्री बीरेन्द्र नाथ सेन, सेवानिवृत्त शिक्षक, गवर्नमेन्ट सिनियर बेसिक स्कूल, गाँवः चारघरा, जिलाः जामताड़ा हमारी तरफ आये।

"हमारे आने का उद्देश्य जान कर वह बेहद प्रेरित और उत्साहित हुये और हमें उस जगह पर ले गये जहाँ महान विद्यासागर रहते थे।" [बिहार बंगाली समिति के विचारार्थ नरेन्द्र नाथ मुखर्जी द्वारा सौंपा गया प्रतिवेदन, दिनांक 26.9.72]

तीर्थस्थल का दर्शन तो हो गया पर इसे वास्तव में तीर्थस्थल बनाने का काम तो अब शुरू होना था। दिनांक 26०9०72 को छपरा में बिहार बंगाली समिति की केन्द्रीय कमिटी की बैठक हुई जिसमें कर्माटाँड़ में स्थित 'नन्दन कानन' की खरीद, रखरखाव एवं विकास हेतु 'विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति बनाई गई जिसके सदस्य हुयेः –

1. श्री देवकान्त बड़ुआ	– राज्यपाल, बिहार (पदेन)–	मुख्य संरक्षक
2. श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय–	लेखक, दरभंगा –	अध्यक्ष
3. डा० सत्येन्द्रनाथ सेन	– कुलपति, कलकत्ता वि०वि०–	उपाध्यक्ष
4. डा० एस० एम० घोषाल	– चिकित्सक, पटना –	उपाध्यक्ष
5. श्री पार्थ सेनगुप्त	– प०बंगाल निरक्षरता दूरीकरण समिति–	संयुक्त सचिव
6. डा० योगेशचन्द्र बनर्जी	– प्राध्यापक, पटना –	सहसचिव
7. श्री सन्तोष कुमार मजुमदार	– पटना –	कोषाध्यक्ष
8. डा० परिमल बन्दोपाध्याय	– होम्यो० चिकित्सक, मिहिजाम –	सदस्य
9. श्री अरुण बसु	– वकील, जामताड़ा–	सदस्य
10. श्री धुव्रज्योति गुप्त	– वकील, दुमका –	सदस्य
11. श्री हनुमान साव	– मुखिया, कर्माटाँड़ –	सदस्य

उपरोक्त समिति के सचिव चुने गये श्री सत्येन्द्र नाथ चक्रवर्ती । गुरुचरण सामन्तो एवं नरेन्द्र नाथ मुखर्जी ने जो प्रतिवेदन रखा बंगाली समिति की केन्द्रीय कमिटी के समक्ष, उसके अनुसार रवीन्द्र नाथ मल्लिक और जीतेन्द्र नाथ मल्लिक, दो भाई नन्दन कानन के तत्कालीन मालिक थे जो कलकत्ता में रहते थे। यहाँ देख रेख करने वाला था 40 रुपये वेतन और अहाते के 10/11 बीघे में खेती कर खाने वाला रखवाला कार्तिक मंडल। इस 10/11 बीघे से अतिरिक्त चार बीघा जमीन और भी था जो बेच दिया गया था। स्वाभाविक था कि बाकी कहानियाँ भाँति भाँति के धंधेबाजों की थीं जो इस जमीन या इसके हिस्से को हड़पने के लिये हर तरह के दाँव अपना रहे थे। लब्बोलुबाव, बात यह थी कि वहाँ कोई नहीं था जो इस सम्पत्ति को स्मारक बनाने का बीड़ा उठा सके। फलस्वरूप इसे अपना काम समझते हुये, गुरूचरण सामन्तो एवं नरेन्द्र नाथ मुखर्जी ने जामताड़ा में बसे बांग्लाभाषियों से मिलते हुये उनकी कई बैठकें आयोजित की एवं खगेन्द्र नाथ सरखेल, सेवानिवृत्त अनुवादक, पटना उच्च न्यायालय को अध्यक्ष तथा विभूति चौबे, प्राध्यापक, बांग्ला विभाग, जामताड़ा कॉलेज को सचिव बनाते हुये बिहार बंगाली समिति, जामताड़ा की एक तदर्थ कार्यकारिणी का गठन किया। स्थानीय लोकप्रिय वकील अरुण कुमार बोस तथा अन्य कई उस समिति में थे। उन बैठकों में नन्दन कानन का महत्व, मौजूदा स्थिति एवं उसे बचाने को बिहार बंगाली समिति का नैतिक दायित्व आदि पर चर्चा हुई। सभी स्थानीय लोगों ने भरपूर सहयोग का आश्वासन दिया। इन सारी बातों को सुन कर तीन फैसलों का होना लाजमी था :-

1. अविलम्ब नन्दन कानन के मौजुदा मालिक से सम्पर्क किया जाय और पता किया जाय कि वे सम्पत्ति को बेचना चाहेंगे या नहीं, 2. जामताड़ा में 'विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति' की एक बैठक की जाय और 3. अगर सम्पत्ति के मालिक से सकारात्मक जबाब मिलता है तो बिहार सरकार से अपील की जाय कि वह जमीन को खरीद कर इसे स्मारक का रूप देनें में पहल करे।

इसी अनुसार, बिहार बंगाली समिति के तत्कालीन सचिव दीपेन्द्र नाथ सरकार ने 5 अक्तूबर 1972 को नन्दन कानन के मालिक मल्लिक

भाईयों को चिट्ठी लिखा। इस चिट्ठी का जबाब जितेन्द्र नाथ मल्लिक ने 11 अक्तूबर 1972 को दिया। 23 अक्तूबर को यह चिट्ठी प्राप्त होने पर सबों ने राहत का साँस लिया। मल्लिक भाईयों का जबाब बहुत ही सकारात्मक था। अब कलकत्ता जाकर मिलने की जरूरत थी।

तीन महीने बाद 28 जनवरी 1973 को जामताड़ा और कर्माटाँड़ के गण्यमान्य 28 नागरिकों ने सामूहिक हस्ताक्षर से बिहार के मुख्यमंत्री को एक पत्र दिया। सरकार से आग्रह किया गया कि इस सम्पत्ति का अधिग्रहण कर इसे विद्यासागर के नाम से राष्ट्रीय स्मारक घोषित किया जाय। यह भी सुझाया गया कि स्मारक बनाये जाने के बाद विद्यासागर की स्मृति की रक्षा के लिये यहाँ इलाके के आदिवासियों के लिये एक विद्यालय तथा महिलाओं के लिये कारिगरी एवं व्यवसायिक प्रशिक्षण का एक विद्यालय स्थापित किया जाय। 6 फरवरी को पुनः वैसा ही एक पत्र अन्य 21 नागरिकों ने सामूहिक हस्ताक्षर कर मुख्यमंत्री को भेजा। 27 अप्रैल को विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति की कार्यकारिणी की बैठक जामताड़ा में हुई। फिर 29 अप्रैल को समिति की आम बैठक हुई। मुख्यतः एक ही मुद्दे के इर्दगिर्द बातचीत हुई, 'नन्दन कानन' की सम्पत्ति की खरीद। चर्चे में सचिव द्वारा रिपोर्ट किया गया कि वर्तमान मालिकों ने सम्पत्ति की कीमत 40,000/- रुपये लगाई है। इधर से दाम कम करने की कोशिश का कोई नतीजा नहीं निकला। स्थानीय नागरिकों की ओर से मुख्यमंत्री को दिये गये पत्रों की भी चर्चा हुई। फिर उसी दिन, यानि 29 की सुबह समिति के लोगों ने कर्माटाँड़ जाकर स्थानीय मुखिया व समिति के सदस्य हनुमान साव की मदद से परिसर की नापी करवाई। 10 बीघा होने का दावा सही निकला और बाजार-भाव 40,000/- के आसपास ही होने की बात भी सही निकली, यह भी रिपोर्ट किया गया।

पटना लौटने के बाद समिति के पदाधिकारियों ने एक प्रतिष्ठित सरकारी वैल्युअर से भी सम्पत्ति की संभावित कीमत का आकलन कराया। उन्होंने कीमत लगाई 50,000/- रुपये। लेकिन तब तक सम्पत्ति के मालिकों से 24,000/- रुपयों पर बात तय हो गई थी। पंजीकरण का खर्चा कुछ और। 26 सितम्बर 1973 को, विद्यासागर की जयंती के अवसर पर, एक रुपये का कूपन छपवाकर कोष संग्रह

अभियान शुरू किया गया। पटना स्थित आई०एम०ए०हॉल में बिहार बंगाली समिति की बैठक में बतौर अतिथि आये हुये बिहार विधान सभा के स्पीकर पंडित हरिनाथ मिश्र ने इस अभियान का उद्घाटन किया। बल्कि उन्होने ही, इसी बैठक में सुझाया कि कर्माटाँड़ रेलवे स्टेशन का नाम 'विद्यासागर' होना चाहिये। उनके सुझाव से प्रेरित होकर बैठक ने तत्काल इसी आशय से एक प्रस्ताव लिया। इस बैठक की विस्तारित खबर 28 सितम्बर 1973 को आनन्दबाजार पत्रिका में छपी थी । उसी खबर से पता चलता है कि एक रुपये के कूपन की बिक्री की शुरूआत करते ही 2565/—रुपये तकाल संगृहित हुये। यह भी पता चलता है कि विद्यासागर की जयंती पर आयोजित उक्त बैठक में पंडित हरिनाथ मिश्र के अलावे डा० अनन्त लाल ठाकुर, श्री के०पी०जायसवाल, प्रो० मृणालिनी घोष, प्रख्यात लेखक गोपाल हालदार, श्री चन्द्रशेखर सिंह एवं अन्य कई लोगों ने अपने विचार रखे।

एक रुपये के कूपन पर कोष संग्रह अभियान बिहार (झारखंड सहित), बंगाल एवं पूरे भारत में चलता रहा। इसी बीच, बिहार सरकार ने 15,000/— रुपयों का अनुदान भी स्वीकृत किया। 29 मार्च 1974 को सम्पत्ति की खरीद की प्रक्रिया एवं पंजीकरण बिहार बंगाली समिति या अंग्रेजी में 'बेंगॉली एसोसियेशन, बिहार' के पक्ष में पूरी हो गई। 31 मार्च 1974 को पी०टी०आई० ने खबर जारी की कि बिहार बांगाली समिति ने संथाल परगना स्थित कर्माटाँड़ में पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का स्मृति—शेष 'नन्दन कानन' का अधिग्रहण कर लिया है। यह भी खबर दी कि अगले महीने बिहार के मुख्यमंत्री अब्दुल गफूर जायेंगे कर्माटाँड़, समिति द्वारा 'नन्दन कानन' के विकास हेतु लिये गये कार्यक्रमों का उद्घाटन करने। आगे यह भी कहा पी०टी०आई० ने कि समिति ने कर्माटाँड़ रेलवे स्टेशन का नाम बदल कर 'विद्यासागर' करने का अनुरोध करते हुये रेलमंत्री एल०एन०मिश्र को एक ज्ञापन सौंपा है। यही खबर लगभग सभी अखबारों में छपी ।

सन 1978 में कर्माटाँड़ रेलवे स्टेशन का नाम विद्यासागर किया गया। उस समय रेल मंत्री थे मधु दंडवते। 'विद्यासागर स्मृतिरक्षा समिति' की ओर से दिनांक 15 जून 1977 को जो पत्र दिया गया उसे पढ़ने से पता चलता है आपातकाल की घोषणा के पहले तक समिति लगातार

रेल मंत्रालय सहित विभिन्न केन्द्रीय व राज्यस्तरीय मंत्रालयों से अनुरोध करती रही, ज्ञापन देती रही लेकिन कर्माटाँड़ रेलवे स्टेशन के नाम को 'विद्यासागर' करने का प्रस्ताव विभागीय अनुशंसाओं के मकड़जाल में फँसा रहा। अन्ततः विज्ञप्ति जारी हुई 1978 में।

संभव हो तो 29 मार्च को या फिर सबकी सुविधा देखते हुये किसी और दिन की घोषणा होती है। डाक, ईमेल, फेसबुक, व्हाट्सप के माध्यम से सूचना पहुँच जाती है। भोर में निकल पड़ते हैं लोग। पटना—हावड़ा जनशताब्दी एक्सप्रेस 6 बजे खुलती है। जामताड़ा पहुँचती है साढ़े दस—ग्यारह बजे तक। फिर उल्टी दिशा से आती हुई एक सवारी गाड़ी 18 किलोमीटर पीछे लाकर विद्यासागर स्टेशन उतार देती है। टाटा सुपर से गये तो दोपहर तक सीधा कर्माटाँड़ ही उतरेंगे। थोड़ी देर में या कभी पहले ही टाटानगर, जमशेदपुर से आने वाली ट्रेन से भी लोग आ जाते हैं। आ जाते हैं राँची और दुमका से लोग। कलकत्ता या मेनलाइन के दूसरे शहरों, श्रीरामपुर, बर्द्धमान आदि से आने के लिये कई ट्रेनें हैं। आसनसोल और धनबाद तो पड़ोस है। नन्दन कानन परिसर स्थित विद्यालय भवन में बड़ी डेकची और कड़ाही चढ़ती है चुल्हे पर, दोपहर के भोजन के लिये। फिर स्कूल के बच्चे, बच्चियाँ पहुँचती हैं प्रतियोगिताओं भाग लेने के लिये। जामताड़ा से वीरुबाबु, अन्य लोग। कर्माटाँड़ तथा आसपास के स्कूलों के शिक्षक। अन्य विशिष्ट जन। कभी कभार कोई बड़ा उद्घाटनकर्ता भी— विधायक, प्रशासक। गायन, वाद्य या नाट्य मंडलियाँ। विद्यासागर की प्रतिमा पर माल्यार्पण कर शुरू होता है 'गुरूदक्षिणा' कार्यक्रम।

या जन्मतिथि कार्यक्रम। कभी—कभी 29 जुलाई का तिरोधान दिवस भी मनाया जाता है। देर शाम तक चलता रहता है। प्रश्नोत्तरी, गीत, कविता—कहानियों का पाठ, नाटक, कुछ बातें। रात को कुछ लोग वहीं सोते हैं तो कुछ जामताड़ा में। फिर अगले दिन सुबह प्रभात फेरी।

शान्त शहर कर्माटाँड़ का बाजार, हाट, चौराहा होकर गुजरता है नारा और यह आत्मविश्वास कि बांग्ला मातृभाषा के आदिगुरू, उन्नीसवीं सदी के महानतम शिक्षाविद व सुधारक, करूणासागर विद्यासागर की स्मृति, इस धरोहर को न सिर्फ हम बचायेंगे बल्कि इस परिसर में विभिन्न शैक्षणिक व प्रौद्योगिक प्रकल्पनाओं को साकार कर, इसे देश के भविष्य के साथ जोड़ेंगे । ¼oÙkeku ys[kd ds ,d iqjkus fuca/k dk la'kksf/kr va'k½

●



ईश्वर चन्द्र विद्यासागर

ISWAR CHANDRA VIDYASAGAR

1820 - 1891

सौजन्य : भारतीय डाक तार विभाग, प्रथम दिवस आवरण, 26.09.1970

माइल स्टोन वाली कहानी

"पहलीबार कलकत्ता आते हुए, सियाखाला में सालिखा के पक्की सड़क पर चढ़कर मैंने देखा कि मसाला पीसने की सिलौटी की तरह का एक पत्थर रास्ते के किनारे गड़ा है। कौतुहल हुआ तो पिता से पूछा, पिताजी, रास्ते के किनारे सिलौटी क्यों गड़ी है? मेरा प्रश्न सुन कर हँसते हुए उन्होने कहा, वह सिलौटी नहीं, उसका नाम है माइल स्टोन। मैंने कहा, पिताजी माइल स्टोन क्या, कुछ समझ नहीं पाया। तब उन्होने कहा, यह अंग्रेजी शब्द है, माइल शब्द का अर्थ है आधा कोस, स्टोन शब्द का अर्थ है पत्थर। इस रास्ते पर हर आधे कोस पर एक एक पत्थर गाड़ा हुआ है। उन पत्थरों पर एक, दो, तीन आदि अंक खुदे हैं। इस पत्थर पर अंक है उन्नीस – इसे देखते ही लोग समझ जाते हैं कि यहाँ से कलकत्ता उन्नीस मील यानी साढ़े नौ कोस। यह कह कर वह मुझे उस पत्थर के पास ले गए।

"पहाड़े में 'एक पर नौ उन्नीस' सीखा था। देखते ही मैंने पहले अंक एक पर, फिर अंक नौ पर हाथ रख कर कहा, तब यह हुआ अंग्रेजी का एक और यह हुआ अंग्रेजी का नौ। फिर कहा, तो पिताजी, इसके बाद जो पत्थर होगा उस पर अट्ठारह, उसके बाद वाले पर सत्रह, इस तरह क्रमशः अंक एक तक देख सकूंगा। उन्होने कहा आज अंक दो तक देख पाओगे। पहला माइल स्टोन जहाँ गड़ा है, हमलोग उस तरफ से नहीं जायेंगे। अगर देखना चाहो तो एक दिन दिखा दूंगा। मैंने कहा, वह देखने की अब जरूरत नहीं है, अंक एक तो मैंने इसी पत्थर पर देख लिया। पिताजी, आज रास्ते पर चलते चलते ही मैं अंग्रेजी के सारे अंक पहचान लूंगा।

"यह प्रतिज्ञा कर, पहले माइल स्टोन के करीब जा कर मैं अंकों को देखने व पहचानने लगा। मनबेड़ चट्टी में दसवाँ माइल स्टोन देखने के बाद मैंने पिता को आवाज देकर कहा, पिताजी, मैंने अंग्रेजी के अंक पहचान लिए। पिताजी बोले, कैसी पहचान हुई, उसकी परीक्षा लूंगा। यह कहकर नौवें, आठवें, सातवें, ये तीन माइल स्टोन क्रमशः दिखाते हुए पूछने पर मैं, यह नौ, यह आठ, यह सात ऐसा बोलता रहा। पिता को शायद दुविधा हुई कि वास्तव में मैं अंकों को पहचान पाया हूँ या नौ के बाद आठ, आठ के बाद सात होगा ही यह जान कर चालाकी से नौ, आठ, सात बोल रहा हूँ। जो भी हो, इसकी जाँच के लिए कौशल कर उन्होने मुझे छठा माइल स्टोन देखने नहीं दिया। सीधा पाँचवाँ माइल स्टोन दिखा कर पूछा, यह कौन सा माइल स्टोन है बोलो तो जाने! मैं देख कर बोला, पिताजी यह माइल स्टोन गलत खोदा हुआ है – इसमें छः होना चाहिए, जबकि पाँच खोदा गया है।"

– ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

[आत्मजीवनचरित (असमाप्त) का अंश]

मुद्रक एवं कम्पोजिंग : ए.एस. प्रिन्टर्स, पटना–3